साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

द्वितीय संस्करण

१६४७

साहित्य प्रेस, आगरा।

अनुक्रमणिका

द्वितीय संस्करण

लिपि-विकास का प्रथम संस्करण इतनी शीघ्रता से समाप्त हो जायगा, इसकी आशा हमें न थी। हिन्दी के विद्यार्थियों और विद्वानों ने इसका समान रूप से आदर किया—यह सन्तोष की बात है। पुस्तक की माँग अधिक होने से द्वितीय संस्करण में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

दो शब्द

विकासवाद की दृष्टि से यद्यपि मौखिक भाषा के उदय का प्रश्न अपना विशेष महत्व रखता है तथापि लिखित भाषा के क्रमागत आविष्कार का मार्ग निश्चित करना उससे कम जटिल प्रश्न नहीं है। मौखिक भाषा के उदय में स्वाभाविक प्रतिक्रियात्मक प्राकृतिक कारण हो सकते हैं। उसमें तो किसी सचेतन उद्योग का कोई प्रश्न मुश्किल से ही उठता है किन्तु लिखित भाषा के विकास में एक विशेष मानसिक उन्नति और किसी अंश में सचेतन प्रयास भी अपेक्षित है।

विकास-क्रम में पीछे आने के कारण लिखित भाषा का महत्व किसी प्रकार कम नहीं हो जाता। इसके कारण मौखिक भाषा को अपेक्षाकृत स्थायित्व और देशान्तर गति की शक्ति मिल जाती है।

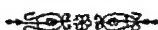
विभिन्न वर्णों के सूत्रों तथा उनमें लगी हुई ग्रन्थियों की भाव-लिपियों और कार्यलिपियों की दुर्गम घाटियों को पार कर पूर्णतया विश्लिष्ट संस्कृत की सी वर्णमाला तक पहुँचना एक लम्बी यात्रा है। इसके आगे ब्राह्मी लिपि का गुप्त लिपि और कुटिल लिपि द्वारा वर्तमान नागरी लिपि तक आना यात्रा का दूसरा उन्नति क्रम है। विकास की इस लम्बी यात्रा का विवरण विद्वान् लेखक की भाषा में पढ़ कर हम उस जटिल मार्ग का अन्दाज लगा सकते हैं। योरुपीय सभी और भारतीय भाषाओं के विभिन्न स्रोत होते हुए उनके विकास का मार्ग प्रायः एकसा ही है। मौखिक भाषा के उदय में जो प्रवृत्तियाँ हैं उनमें से कमसे कम अनुकरण और संकेत-निर्माण की प्रवृत्तियाँ लिखित भाषा के उदय में भी परिलक्षित होती हैं।

विदेशी पण्डितों की इन दोनों कल्पनाओं का कि ब्राह्मी लिपि फिनिशियन लिपि से निकली है अथवा उसमें खारोष्ट्री का प्रभाव रहा है, इस पुस्तक में बड़ी विद्वत्ता के साथ निराकरण किया गया है।

मेहरोत्राजी ने ब्राह्मी लिपि से देवनागरी तथा भारत की विभिन्न लिपियों के विकास का जो क्रम दिखाया है वह आजकल भाषा के आन्दोलन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उसके अध्ययन से भारतीय लिपियों की पारस्परिक एकता और सौंदर्य व्यापकता और त्वरा लेखन की दृष्टि से देवनागरी अक्षरों की श्रेष्ठता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। लेखक ने रोमन लिपि की तुलना में भी देवनागरी की श्रेष्ठता प्रमाणित की है। हिंदी में जिन ध्वनियों की कमियाँ हैं और जो लिपि-चिह्न भ्रामक हैं उनकी ओर संकेत कर लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह देवनागरी लिपि का अन्धभक्त नहीं है।

इस विषय पर श्रद्धेय ओझाजी की जो विषद और प्रामाणिक पुस्तक है वह विद्यार्थियों की पहुँच से बाहर है। यह पुस्तक विद्यार्थियों को इस विषय का आवश्यक ज्ञान करा सकेगी और आशा है, भाषा-विज्ञान के साहित्य में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी।

लिपि-विकास



लिपि का आविष्कार

मनुष्य समाजबद्ध प्राणी है, वह विचार-विनिमय किए बिना नहीं रह सकता। भाषण-क्रिया तो उसका जन्म-सिद्ध अधिकार था ही,. अतः भाषोत्पत्ति के पूर्व आदिकाल में तो वह मूक मनुष्यों की भाँति आ-आ, ई-ई करके इंगितों द्वारा अपना कार्य चला लेता होगा, परन्तु बाद में वाक्-शक्ति का विकास होने पर मौखिक भाषा द्वारा अपना कार्य सञ्चालन करने लगा होगा। मौखिक भाषा द्वारा निकट होने पर तो विचार-विनिमय हो सकता था, परन्तु दूर होने पर नहीं। अतः यह एक जटिल समस्या थी कि दूर के मनुष्यों पर भाव प्रकाशन किस प्रकार किया जाय। इसके अतिरिक्त जब सामाजिक जटिलताएँ बढ़ने लगीं, तो मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न यह भी आया कि वह उन बातों को जिनको कि वह अपने जीवन के लिए आवश्यक समझता है अथवा जो उसे अच्छी लगती हैं, अपनी आगामी सन्तानों के लिए किस प्रकार सुरक्षित छोड़ें। ये प्रश्न भिन्न भिन्न देशों में विभिन्न लिपियों द्वारा हल किये गये।

यहाँ लिपि सम्बन्धी दो एक बातें स्मरण रखनी चाहिए। प्रथम यह कि प्राचीन काल में धर्म, साहित्य तथा इतिहास का लिपि से उतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं था जितना आज है। आज लिपि के अभाव में साहित्य, इतिहास आदि का होना असम्भव सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। लिपि के

विदेशी पण्डितों की इन दोनों कल्पनाओं का कि ब्राह्मी लिपि फिनिशियन लिपि से निकली है अथवा उसमें खारोष्ट्री का प्रभाव रहा है, इस पुस्तक में बड़ी विद्वत्ता के साथ निराकरण किया गया है।

मेहरोत्राजी ने ब्राह्मी लिपि से देवनागरी तथा भारत की विभिन्न लिपियों के विकास का जो क्रम दिखाया है वह आजकल भाषा के आन्दोलन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उसके अध्ययन से भारतीय लिपियों की पारस्परिक एकता और सौंदर्य व्यापकता और त्वरा लेखन की दृष्टि से देवनागरी अक्षरों की श्रेष्ठता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। लेखक ने रोमन लिपि की तुलना में भी देवनागरी की श्रेष्ठता प्रमाणित की है। हिंदी में जिन ध्वनियों की कमियाँ हैं और जो लिपि-चिह्न भ्रामक हैं उनकी ओर संकेत कर लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह देवनागरी लिपि का अन्धभक्त नहीं है।

इस विषय पर श्रद्धेय ओझाजी की जो विशद और प्रामाणिक पुस्तक है वह विद्यार्थियों की पहुँच से बाहर है। यह पुस्तक विद्यार्थियों को इस विषय का आवश्यक ज्ञान करा सकेगी और आशा है, भाषा-विज्ञान के साहित्य में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी।

लिपि-विकास



लिपि का आविष्कार

मनुष्य समाजबद्ध प्राणी है, वह विचार-विनिमय किए बिना नहीं रह सकता। भाषण-क्रिया तो उसका जन्म-सिद्ध अधिकार था ही, अतः भाषोत्पत्ति के पूर्व आदिकाल में तो वह मूक मनुष्यों की भाँति आ-आ, ई-ई करके इंगितों द्वारा अपना कार्य चला लेता होगा, परन्तु बाद में वाक्-शक्ति का विकास होने पर मौखिक भाषा द्वारा अपना कार्य सञ्चालन करने लगा होगा। मौखिक भाषा द्वारा निकट होने पर तो विचार-विनिमय हो सकता था, परन्तु दूर होने पर नहीं। अतः यह एक जटिल समस्या थी कि दूर के मनुष्यों पर भाव प्रकाशन किस प्रकार किया जाय। इसके अतिरिक्त जब सामाजिक जटिलताएँ बढ़ने लगीं, तो मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न यह भी आया कि वह उन बातों को जिनको कि वह अपने जीवन के लिए आवश्यक समझता है अथवा जो उसे अच्छी लगती हैं, अपनी आगामी सन्तानों के लिए किस प्रकार सुरक्षित छोड़ें। ये प्रश्न भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न लिपियों द्वारा हल किये गये।

यहाँ लिपि सम्बन्धी दो एक बातें स्मरण रखनी चाहिए। प्रथम यह कि प्राचीन काल में धर्म, साहित्य तथा इतिहास का लिपि से उतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं था जितना आज है। आज लिपि के अभाव में साहित्य, इतिहास आदि का होना असम्भव सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। लिपि के

(३) भाव-प्रकाशक लिपि—किसी भाषा अथवा लिपि के इतिहास में बच्चों का भाषार्जन करना, असभ्य तथा जंगली जातियों की लिपियों का ज्ञान प्राप्त करना, इत्यादि बहुत सहायक होते हैं। हम देखते हैं कि छोटे बच्चे चित्र-रचना (Picture composition) में चित्रों द्वारा पूरी कहानी बना लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य नक्काशी आदि करने लगा और चित्र-कला की उन्नति हो गई, तो भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों द्वारा परस्पर विचार-विनिमय होने लगा। ये चित्र प्रायः शिलाओं, पेड़ की छालों तथा जानवरों की खालों, हड्डियों, सींगों, दातों आदि पर बनाये जाते थे। अब भी अनेकों चित्र कैलीफोर्निया की घाटी तथा स्काटलैंड में पत्थरों पर, ओहियो रियासत में पेड़ की छालों पर, लैपलैंड में ढोलों पर तथा औवर्न (फ्रांस) में सींगों पर खुदे हुए पाए जाते हैं। प्रारम्भ में एक चित्र द्वारा सम्पूर्ण घटना का बोध होता था। इस प्रकार की घटना-प्रकाशक चित्र लिपि अमरीका के आदि निवासियों में प्रचलित थी। तत्पश्चात पृथक-पृथक वस्तुओं से उत्पन्न भावों के लिए एक-एक चित्र-संकेत (Ideograph) आने लगा। इस प्रकार की भाव-बोधक चित्र लिपि मैक्सिको तथा मिश्र के आदि निवासियों में प्रचलित थी। बाद में जब संवाद समझने में कठिनता हुई और कभी-कभी विपरीत समाचार गृहीत हुए, तो एक-एक मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ के लिए एक-एक भाव चित्र आने लगा, उदाहरणार्थ प्राचीन चीनी चित्र-लिपि में पेड़ों से 'वने', दो मिले हुए हाथों से 'मित्रता' आदि का बोध होता था। कालान्तर में ये चित्र संक्षिप्त होकर सांकेतिक चिह्न मात्र रह गए। उदाहरणार्थ ग्रोटफेन्ड (Grotefend) के मतानुसार रोमन अंक प्राचीन काल में भाव चित्रों के द्योतक थे, यथा I, II तथा III अंगुलियों के द्योतक, V अंगूठे और उसके पास की अंगुली द्वारा बनने वाले कोण

तथा । ॥ ॥। ॥॥ आदि रेखाओं से हुआ है। मण्डल मतावलम्बी मनोवैज्ञानिकों का मत है कि समस्त रेखा-चित्र तथा चिन्ह मण्डल '⊙' अर्थात् शून्य से निकले हैं। यही कारण है कि 卐 (हिन्दुओं का धार्मिक चिन्ह स्वस्तिका) 卍 (जैनों का धार्मिक चिन्ह), ˘ (मुसलमानों का धार्मिक चिन्ह), + (ईसाइयों का क्रास) आदि सब मण्डल '⊙' में परिवर्तित हो सकते हैं। इस मत का आधार यह है कि मस्तिष्क केन्द्र में सैल्स (cells) मण्डलाकार हैं, यही कारण है कि छोटे बच्चे जब स्वतन्त्र रूप से ड्राइंग खींचते हैं तो वे प्रायः अपने मस्तिष्क की सैल्स की प्रतिछाया स्वरूप गोल-मोल लकीरें होती हैं। इससे प्रगट है कि अङ्कों की उत्पत्ति रेखाओं से हुई है; और क्योंकि अनेकों भाषा-लिपियों में दो एक अङ्क ऐसे मिलते हैं जिनका रूप किसी न किसी वर्ण से मिलता है। जैसे उर्दू । (१) अरबी । (अलिफ) से, ٣ (३) फा० ـ (सीन) के शोशे से, हिन्दी ५ का प्राचीन रूप चिन्ह नं० १, हिन्दी के 'प' वर्ण से, रोमन ५ १० क्रमशः अँग्रेजी के v और x वर्ण से, ग्रीक १, २, १०, २० आदि ग्रीक वर्ण अल्फा, बीटा, आइओटा, कापा आदि (क्रमशः चिन्ह नं० २, ३, ४, ५) से मिलते हैं। अतः अङ्कों की उत्पत्ति सम्भवतः वर्णों से पूर्व हो चुकी थी। अतएव रेखा-लिपि किसी समय एक नियमित तथा सुसम्बद्ध लिपि अवश्य थी। सम्भवतः जब वस्तु लिपि से काम न चला होगा तो रेखा लिपि का प्रचार हुआ होगा। प्राचीन काल में शिलाकार, नक्काशीदार लकड़ी अथवा पत्थर काम में लाए जाते थे। अब भी कुछ जङ्गली जातियों में रेखा-लिपि का अब भी प्रचार है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि रेखा-लिपि से वर्णों की अपेक्षा अङ्कों की सम्भावना अधिक सम्भव है।

(३) भाव-प्रकाशक लिपि—किसी भाषा अथवा लिपि के इतिहास में बच्चों का भाषार्जन करना, असभ्य तथा जंगली जातियों की लिपियों का ज्ञान प्राप्त करना, इत्यादि बहुत सहायक होते हैं। हम देखते हैं कि छोटे बच्चे चित्र-रचना (Picture composition) में चित्रों द्वारा पूरी कहानी बना लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य नक्काशी आदि करने लगा और चित्र-कला की उन्नति हो गई, तो भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों द्वारा परस्पर विचार-विनिमय होने लगा। ये चित्र प्रायः शिलाओं, पेड़ की छालों तथा जानवरों की खालों, हड्डियों, सींगों, दांतों आदि पर बनाये जाते थे। अब भी अनेकों चित्र कैलीफोर्निया की घाटी तथा स्काटलैंड में पत्थरों पर, ओहियो रियासत में पेड़ की छालों पर, लैपलैंड में ढोलों पर तथा औवर्न (फ्रांस) में सींगों पर खुदे हुए पाए जाते हैं। प्रारम्भ में एक चित्र द्वारा सम्पूर्ण घटना का बोध होता था। इस प्रकार की घटना-प्रकाशक चित्र लिपि अमरीका के आदि निवासियों में प्रचलित थी। तत्पश्चात पृथक-पृथक वस्तुओं से उत्पन्न भावों के लिए एक-एक चित्र-संकेत (Ideograph) आने लगा। इस प्रकार की भाव-बोधक चित्र लिपि मैक्सिको तथा मिश्र के आदि निवासियों में प्रचलित थी। बाद में जब संवाद समझने में कठिनता हुई और कभी-कभी विपरीत समाचार गृहीत हुए, तो एक-एक मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ के लिए एक-एक भाव चित्र आने लगा, उदाहरणार्थ प्राचीन चीनी चित्र-लिपि में पेड़ों से 'वने', दो मिले हुए हाथों से 'मित्रता' आदि का बोध होता था। कालान्तर में ये चित्र संक्षिप्त होकर सांकेतिक चिह्न मात्र रह गए। उदाहरणार्थ ग्रोटफैन्द (Grotofend) के मतानुसार रोमन अंक प्राचीन काल में भाव चित्रों के द्योतक थे, यथा I, II तथा III अंगुलियों के द्योतक, V अँगूठे और उसके पास की अँगुली द्वारा बनने वाले कोण

का द्योतक X (ˇ^) दोनों हाथों का द्योतक और IV, VI, VII, VIII, IX आदि अंगुलियों के घटने-बढ़ने से बनने वाले हाथ अथवा हाथों के द्योतक सांकेतिक चिह्न थे। कहीं-कहीं तो ये सांकेतिक-चिह्न इतने परिवर्तित हो गए कि इनका अपने मूल-चित्रों से लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा और उनके प्रतीक बन गए, उदाहरणार्थ प्राचीन चीनी लिपि में 'कुत्ता' तथा 'लकड़ी' के भाव-चित्र क्रमशः नं० ६ तथा ७ थे, परन्तु आधुनिक चीनी लिपि में इनके सांकेतिक चिह्न अथवा प्रतीक क्रमशः नं० ८ तथा ९ हैं। जटिल भावों आदि का द्योतन करने के लिए दो तीन भाव-चित्र मिला लिए जाते थे, जैसे प्राचीन चीनी लिपि में साधु का बोध पर्वत पर मनुष्य रहने के भाव-चित्र नं० १० द्वारा होता था और आधुनिक चीनी-लिपि में भी सांकेतिक चिह्न नं० ११ द्वारा होता है; इसी प्रकार विवाहिता स्त्री के लिए स्त्री तथा झाड़ू के, प्रेम करने के लिए स्त्री तथा पुत्र के, रक्षा के लिए स्त्री पर हाथ के, अन्धकार के लिए वृक्ष के नीचे सूर्य के, प्रकाश के लिए वृक्ष पर चन्द्र सूर्य के, सांकेतिक चित्र बनाए जाते थे। क्यूनीफार्म लिपि में बन्दीगृह के लिए घर तथा अन्धकार के, अश्रु के लिए जल तथा आँख के, और मिस्री में प्यास के लिए जल तथा उसकी ओर दौड़ते हुए पशु-वत्स के सांकेतिक चिह्न बनाए जाते थे। इसी प्रकार रेड इंडियन जाति में समय के लिए वृत्त का, कुटुम्ब के लिए अग्नि का, शान्ति के लिए पाइप का और शीघ्रता के लिए पंख फैलाए हुए पक्षी का प्रयोग होता था। चूँकि ये सांकेतिक चिह्न शब्दों की भांति प्रयुक्त होते थे, अतः इस लिपि को शब्द-लिपि कह सकते हैं। ये सांकेतिक चिन्ह भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। उदाहरणार्थ सुमेर तथा मिश्र के जल-चिन्ह क्रमशः नं० १२ तथा १३ थे। इसी प्रकार चीन में मित्रता का बोध दो मिले हुए हाथों से होता था, परन्तु

अमरीका की रैड इंडियन जाति में अँगूर की वेल द्वारा होता था। + (योग),— (घटाना), × (गुणा), ÷ भाग, ∵ (चूँकि), ∴ (इसलिये), = (बराबर), > (अपेक्षाकृत बड़ा), < (अपेक्षाकृत छोटा), ∥ (समानान्तर) △ (त्रिभुज) ⊥ (लम्ब) आदि तथा ⊙ (चन्द्रमा), ⊙ (सूर्य), नं० १४ (पृथ्वी), नं० १५ (वृहस्पति) नं० १६ (मङ्गल), नं० १७ (शुक्र), नं० १८ (शनिश्चर) आदि भी, जिनको सर्व संसार के गणितज्ञ तथा भूगोलज्ञ अथवा ज्योतिषी एक होने के कारण समझ लेते हैं, सम्भवतः इसी प्रकार के चिन्ह हैं। विशप विल्किस के मत से भी, जो कि इनको अत्यन्त प्राचीन और विश्व भाषा (universal langvage) का अवशेष चिन्ह मानता है, इसकी पुष्टि होती है। स्काउट आजकल भी इस प्रकार के शब्द-चिन्हों का प्रयोग करते हैं, जैसे नं० १८, १६. → ⊙ + आदि क्रमशः जल, डेरा, आओ, घर, भय आदि के द्योतक हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि स्काउट चिन्हों का, जो अभी कुछ समय पूर्व निर्मित हुए हैं, प्राचीन शब्द-प्रकाशक-चित्र लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) **ध्वनि प्रकाशक चित्र लिपिः**—मूर्त्त पदार्थों का तो वास्तविक सांकेतिक चित्रों द्वारा और अमूर्त्त पदार्थों का सांकेतिक चिन्हों द्वारा प्रकाशन हो जाता था और जटिल भावों के लिए दो तीन भाव-चित्र संयुक्त कर लिए जाते थे, परन्तु व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने के लिए कोई चिन्ह न था। इस आवश्यकता की पूर्त्ति भाव-चित्रों को ध्वनि-चित्रों में परिणत करके की गई, उदाहरणार्थ मैक्सिको के चतुर्थ राजा 'इत्जकोल' का नाम मैक्सकन 'इत्ज' (चाकू) तथा 'कोत्ल' (सर्प) के भाव-चित्रों द्वारा लिखा गया है। इस प्रकार मूल चित्रों से सांकेतिक भाव-चित्र और भाव चित्रों से ध्वनि-चित्र बने।

(क) समोच्चारक शब्द-लिपि—जब भाव-चित्र ध्वनि-चित्रों में परिणत होने लगे तो कुछ समय पश्चात् समोच्चारक शब्दों के लिए एक लिपि-चिन्ह प्रयुक्त होने लगा। क्योंकि इन लिपि-चिन्हों का सम्बन्ध मौखिक ध्वनियों से था, अतः इसे मौखिक (Verbal) लिपि भी कहते हैं। यह लिपि प्राचीन काल में मिस्र में प्रचलित थी और चीन में तो अब भी प्रचलित है। एक उदाहरण से उसका रूप स्पष्ट हो जायगा। चीनी में एक समोच्चारक शब्द है मु, मुक, मोक अथवा मुङ्ग जिसका ध्वनि-चिन्ह है नं० २० जोकि सोचना, सोच, सोचनीय, सोचा, सोचता है, सोचूँगा, सोचेगा आदि सब के लिए आता है अर्थात जिस प्रकार हिन्दी में किसी शब्द के संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि भिन्न-भिन्न शब्द-भेदों, स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग आदि विभिन्न लिङ्गों एक वचन, बहुवचन आदि विभिन्न वचनों, उत्तम, मध्यम आदि विभिन्न पुरुषों, कर्त्ता, कर्म आदि विभिन्न कारकों, भूत भविष्यत आदि विभिन्न कालों अथवा काल-भेदों में भिन्न भिन्न रूप आते हैं, उस प्रकार चीनी में नहीं होता, उसमें इन सब दशाओं में एक ही रूप रहता है। समोच्चारक शब्दों को अँग्रेजी में Homophones कहते हैं। होमोफोन्स वे शब्द हैं जिनमें एक ही उच्चारण से अनेकों शब्दों का काम चल सके अर्थात् एक शब्द अथवा शब्द-चिन्ह के कई अर्थ हों। चीनी में इस प्रकार के अनेकों होमोफोन्स हैं। किसी शब्द को निश्चयपूर्वक समझने के लिए प्रत्येक ध्वनि-चिन्ह के साथ उसकी टीका (Key) स्वरूप एक भाव-चिन्ह प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ चीनी में 'पा' ध्वनि-बोधक चिन्ह नं० २१ के आठ अर्थ हैं। इसके साथ केले के अर्थ में वृक्षों की, घाव के अर्थ में रोग की, चिल्लाहट के अर्थ में मुख की टीका अर्थात् भाव-बोधक चिन्ह लगाया जाता है।

(ख) अक्षर (Syllable) लिपि---तत्पश्चात् लेखन-प्रणाली को सरल करने के लिए जिन शब्दों के आदि में समान अक्षर (एकाक्ष पद अथवा पदांश) था उनको एकचित्र करके सर्व सम्मिलित अक्षर का पृथक ध्वनि चिन्ह आने लगा अर्थात् आद्याक्षर सिद्धान्तानुसार सांकेतिक ध्वनि चिन्ह आक्षरिक संकेतों के लिए प्रयुक्त होने लगे। आक्षरिक चिन्हों का निर्माण होने पर उनको सयुक्त करके अनेकाक्षरों का बोध कराया जाने लगा।

इस प्रकार बहुत से अनेक ध्वनि बोधक (Polyphonic) प्रतीक बन गए, जिनके अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेकों विशेषणों का प्रयोग होने लगा। ये विशेषण विशेष तथा जाति-बोधक दो प्रकार के होते थे। उदाहरणार्थ मिस्री-लिपि में चिन्ह नं० ६१ में प्रथम दो ध्वनि-बोधक संकेत 'सेर' की ध्वनि के प्रतीक हैं। इनके बाद एक पशु का चित्र है। यह पशु चित्र विशेषण विशेष है। जाति बोधक विशेषण केवल मुख्य मुख्य स्थलों पर ही प्रयुक्त होते थे, जैसे 'चक्षु' का प्रयोग दृष्टि सम्बन्धी शब्दों के लिए, 'दो टाँगों' का प्रयोग चलने से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों के लिए और 'बत्तख' का प्रयोग पक्षीमात्र के लिए होता था। यही कारण है कि विशेष विशेषण तो बहुत से थे परन्तु जाति बोधक विशेषण बहुत थोड़े थे।

मौखिक लिपि से आक्षरिक लिपि के विकास का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी लिपि से जापानी लिपि का उद्भव है। इस परिवर्तन में विजातीय संसर्ग अत्यन्त सहायक है। यद्यपि चीनी आज तक मौखिक लिपि से आगे न बढ़ सकी, परन्तु जापानियों ने, जिनकी भाषा अनेकाक्षरी थी, चीनी वर्णों को आक्षरिक चिन्हों के रूप में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया, जैसे चीनी सांकेतिक चिन्हों 'सि', नं० २२, कासाकाना (जापानी) में नं० २३ के

रूप में 'तसी' अक्षर के लिए आता है। यूक्रेटिक उपत्यका की सैमेटिक कीलाक्षर (Cuneiform) लिपि भी इसका सुन्दर उदाहरण है। मेक्सिको के आदि निवासी एजटिक लोगों में भी इसका प्रचार था।

उक्त प्रकार के परिवर्तनों अर्थात् मूलभाव-बोधक चित्र लिपि से आक्षरिक लिपि तक के विकास को समझने के लिए एक दो उदाहरण दे देना अधिक युक्तिसङ्गत होगा। क्यूनीफार्म तथा मिस्री लिपि में यह सभी परिवर्तन पाए जाते हैं। क्यूनीफार्म लिपि में तारे का मूल चित्र नं० २४ था, इसका सरलीकृत रूप नं० २४ आकाश का वाचक हुआ।‡ 'प्रोटो—बैबीलोनियन धर्म में नक्षत्रों की उपासना मुख्य थी। इसलिए यह सांकेतिक चिन्ह 'भगवान' के लिए प्रतीकात्मक भावबोधक चित्र बना। भगवान् के लिए ऐकेडियन भाषा में 'ऐना' है। इसका सरलीकृत रूप हुआ 'ऐन'। इस प्रकार हमने देखा कि पहले तो सांकेतिक चिन्ह आकाश का बोध कराने वाला भाव-बोधक चिन्ह बना और भगवान के लिए प्रयुक्त हुआ और अन्तिम अवस्था में वह केवल 'ऐन' के उच्चारण-बोधक ध्वनि-बोधक चिन्ह के रूप में प्रयुक्त हुआ। जब एक बार मूलध्वनि-बोधक संकेतों से अक्षरों का निर्माण होगया तो इन अक्षरों को मिला कर अनेकाक्षरी शब्दों का बोध कराया जाने लगा।' इसी प्रकार मिस्री में ❀ 'वंशी' का चित्र 'उत्तमता' का प्रतीक समझा जाता था। तत्पश्चात् वह 'अच्छे' का बोध कराने के लिए ध्वनि बोधक संकेत बना। मिस्री भाषा में इसके लिए 'नेफ़र' शब्द है। परन्तु यह ध्वनि-संकेत दो शब्दों के अर्थ में प्रयुक्त होता है— एक का अर्थ 'अच्छे' का है और दूसरे का 'यथासम्भव'। अतएव हम देखते हैं कि वही

‡ विश्व भारती खण्ड १ पृष्ठ ३५४

❀ विश्व भारती खण्ड १ पृष्ठ ३५५

७	८
१५	१६
२३	२४
२९ अथवा	
३८	३९
४६	४७
५३ अथवा	
६० ए	६१

ंकेत हैं
क है।
'नेफ़र'
संकेत

मान-
नक्षरों
ष्राय
ागा।
ी ही
सकी
र के
ष्कृति
ासा
ााइ
था,
में
ही
हैं
का
के

शनैः शनैः ध्वनि-बोधक चित्र में परिणत हो गया होगा, तदनन्तर वह आद्याक्षरोच्चारण सिद्धान्त (Acrologic Principle) के अनुसार 'मू' अक्षर का द्योतक आक्षरिक चिन्ह बन गया होगा। और अन्त में केवल 'म' व्यञ्जन ध्वनि का द्योतक रह गया होगा। 'M' वर्ण-चिन्ह का क्रमशः, विकास मिस्री हाएरोग्लाइफिक (नं० ३१), हाएरेटिक (नं० ३२), फिनीशियन (नं०३३) तथा रोमन (M) संकेत चिन्हों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक लिपि में कुछ न कुछ वर्ण चिन्ह इस प्रकार अवश्य बने होंगे। ब्राह्मी में कुछ लिपि-चिन्ह ऐसे भी हैं जो देवताओं के सांकेतिक चिन्हों द्वारा बने हैं।

(घ) वर्ण मूलक लिपि—तत्पश्चात शब्दों तथा अक्षर की समस्त ध्वनियों का विश्लेषण होने लगा और प्रत्येक ध्वनि के लिये लिपि चिन्ह निर्मित हो गए; परन्तु सब लिपि चिन्ह वस्तुओं के अनुकरण पर नहीं बने, क्योंकि अधिकतर प्राचीन लिपि चिन्ह ऐसे हैं जिनका उनसे उच्चरित होने वाली वस्तुओं को आकृति से कोई सादृश्य नहीं है, उदाहरणार्थ अप (जल) के आद्य वर्ण 'अ' का प्राचीन रूप सुमेर जल चिन्ह नं० १२ के समान है। अब प्रश्न यह है कि 'अ' जल चिन्ह के ही समान क्यों हुआ ? 'अ' ध्वनि का उससे क्या सम्बन्ध है ? इसका समाधान वस्तु वाचक अनुकरणात्मक चित्र-लिपि से नहीं हो सकता। अनेक प्राचीन लिपि चिन्ह ऐसे हैं जिनका आकार उनके उच्चारण में भाषणावयवों द्वारा उत्पन्न होने वाली आकृति से मिलता-जुलता है, उदाहरणार्थ अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में दोनों नथने या तो फूल कर नं० ३४ की भाँति अथवा सिकुड़ कर नं० ३५ की भाँति हो जाते हैं। समय की मात्रा प्रकट करने के लिए हिन्दी में ।, ऽ तथा अँगरेज़ी में ˘,—प्रयुक्त होते हैं और वैदिक साहित्य में स्वरित स्वर के ऊपर '।' और अनुदात्त के नीचे

होती हैं। किसी-किसी वर्ण अथवा अंक में तो इतना परिवर्तन हो गया है कि पहचानना तक कठिन है और प्राचीन तथा आधुनिक रूपों में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता जैसे इ उ ए ग ण न ब म य र आदि के प्राचीन (क्रमशः नं० ४७, ∠, △, नं० ३०, ४,८ ⊥,▭, नं० ४६, आदि) तथा नवीन रूपों में। अ के उदाहरण से यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। अ, विशेषतः वं, व, ध्वनि के उच्चारण में मुँह अधिक फैलता है और उसका आकार लगभग = अथवा नं० ५० जैसा हो जाता है। अतः अ का आकार नं० ५० जैसा होना चाहिये था, परन्तु क्योंकि दीर्घ 'अ' के उच्चारण में भी निकटतया वैसा ही आकार बनता है, अतः ह्रस्व तथा दीर्घ का भेदक अथवा समय की मात्रा का द्योतक चिन्ह अङ्कित करना पड़ा होगा क्योंकि दीर्घ आ के उच्चारण में ह्रस्व अ की अपेक्षा दूना अथवा दो मात्रा समय लगता है और समय की मात्रा का चिन्ह 'ा' था, अतः अ लिपि चिन्ह का निर्माण मुखाकृति नं० ५० तथा मात्रा 'ा' के संयोग से हुआ और अ आ के आकार प्रारम्भ में सम्भवतः कुछ-कुछ नं० ५१, ५२, जैसे रहे होंगे, परन्तु क्योंकि अशोक कालीन ब्राह्मी से, जिस से कि हिन्दी का निष्क्रमण हुआ, पूर्व की लिपि अप्राप्य है, अतः आधुनिक अ का प्राचीनतम प्राप्य रूप नं० ५३ जैसा रूप तथा 'अ' किस प्रकार हुआ? उक्त प्रकार के परिवर्तनों के कारण निम्न लिखित हैं—

कारणः—(१) लेखन सामग्री की विभिन्नता—प्राचीन काल में आजकल के से कागज-कलम न थे। कागज का आविष्कार तो बहुत बाद में (तीसरी शता० पूर्व तथा पश्चात् के मध्य) हुआ है। सर्व प्रथम चीन में रेशम का कागज बना, फिर साइलन (Tsailon) ने पत्तियों के रेशों से कागज बनाया। चंगेज़ ख़ाँ के चीनी हमले से इसका प्रचार तातार में हो गया। भारत

में यों तो चीथड़े गूदड़ों को कूटकर चौथी शताब्दी में कागज बनने लगा था, परन्तु इसका ठीक प्रकार आरम्भ मोहम्मद गोरी के आक्रमण से और प्रचार अकबर के समय से हुआ। इङ्गलैंड में १४६० ई० पू० में कागज बना। अतः ११ वीं शताब्दी से पूर्व भारत में कागज का प्रचार न था। इससे पूर्व का काम शिला (हनुमानजी का वाल्मीकि रामायण की स्पर्धा में शिलाओं पर रामायण की रचना करना प्रसिद्ध ही है), ताम्र पत्र, ताड़ पत्र, चर्म पत्र, लकड़ी के तख्ते (बाद में भोज पत्र) आदि से लिया जाता था, अतः मृदुल लेखनी से काम नहीं चल सकता था और लोहे के पुष्ट सूजे आदि से काम लिया जाता था, उदाहरणार्थ रोम तथा मिस्र में हड्डी से, युफ्रेटिस उपत्यका में कीलों से लेखनी का काम लिया जाता था। मृदुल कागज पर लिखने की अपेक्षा शिला, ताड़पत्र आदि कठोर पदार्थों पर लिखने में वर्णों का रूप टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। ज्यों ज्यों मृदुल लेखनी तथा पत्र का प्रचार होता गया त्यों त्यों वर्णों के रूप में भी हेर-फेर होता गया और रेखाएँ सीधी तथा सुन्दर होती गईं।

(२) वैज्ञानिक आधार का लोपः—कालान्तर में लिपि चिन्ह तथा उच्चारण कालीन मुखाकृति का सम्बन्ध विस्मृत हो गया और रेखाएँ मुखाकृति की द्योतक न रह कर केवल रेखा मात्र समझी जाने लगीं। फलतः उनकी स्थिति तथा रूप में बहुत भेद हो गया। अनेकों रेखाएँ □ से ⌒ अथवा ⌣,—से नं० ५४ नं० ४५ से नं० १, 9 से ७, इत्यादि हो गईं। सम्भवतः अ का प्रारम्भिक रूप नं० ५१ भी इसी प्रकार विकृत होकर नं० ५३ जैसा हो गया होगा।

लिखने की रीतिः—निश्चय, सरलता, त्वरा-लेखन-सुन्दरता आदि लिपि गुणों के कारण भी अनेक विकार होते रहते हैं।

(क) त्वरा लेखनः—शीघ्रता से लिखने में रेखाओं के रूपों में प्रायः परिवर्तन हो जाता है उदाहरणार्थ 'अ' 'र' आदि लिखने में नं० ५५, ५६ जैसे हो जाते हैं। शीघ्रता से लिखने में लेखनी कम उठाई जाती है और रेखाएँ प्रायः मिल जाती हैं। सिरबन्दी का लोप हो जाना तो साधारण सी बात है। सम्भव है किसी समय सिरबन्दी त्वरालेखन में बाधक होने के कारण बिल्कुल ही हटा दी जाय।

(ख) सुन्तरता तथा निश्चय—प्राचीन काल में वर्णों के ऊपर सिरबन्दी न होने के कारण कुरूपता के अतिरिक्त बड़ी गड़बड़ भी होती होगी। अतः सौन्दर्य-वृद्धि तथा निश्चय के लिये वर्णों के ऊपर एक छोटी पगड़ी-सी (—) रक्खी जाने लगी जो दो अंशों में विभक्त होती थी। कालान्तर में ये दोनों अंश त्वरालेखन होने के कारण मिल कर एक हो गये और सिर-बन्दी में परिवर्तित होगये। प्राचीन छः (नं० ५७) तथा नौ (नं० ५८) में अधिक अन्तर न था, अतः अब ६ तथा ९ रूप हो गये। इसी प्रकार अक्षाड़ वर्णों में सुन्दरता के लिये एक तीर की नोंक सी लगा दी जाती थी जैसा कि नं० ५९ से प्रकट है। हिंदी ए का नवीन रूप नं० ६० आधुनिक तथा प्रचलित रूप 'ए' से कहीं अधिक सुन्दर है।

(ग)सरलता —किसी किसी वर्ण का रूप क्लिष्ट होता है और उसके सरल करने में अनेकों रेखाएँ वक्र से सरल हो जाती हैं, उदाहरणार्थ त्त, क्त अथवा क्त द्य के स्थान में त्त, क्त, द्य आदि आने लगे हैं। इसी प्रकार वैदिक नं० ३८ का ँ होगया। पाश्चात्य लिपियों में पूर्वात्य लिपियों की अपेक्षा रेखाओं का विकास वक्रता से सरलता की ओर अधिक है। कभी कभी सर-लता के कारण वर्णों के प्राचीन रूपों का लोप और नवीन रूपों

की उत्पत्ति भी होती है, जैसे हिन्दी में अ की जगह मराठी अ लिखने काप्रचार अधिक हो रहा है तथा मराठी में इ, उ, ए के स्थान में अि, अु, अे आने लगे है।

[४] विभाग-मिश्रण—किसी भाषा का विभाषा से संसर्ग होने पर उसमें अनेकों नवीन ध्वनियाँ आ जाती हैं और उनके द्योतक नवीन चिन्ह बन जाते हैं, उदाहरणार्थ हिन्दी में अरबी-फारसी के संसर्ग से क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऋ, अ़ आदि तथा अँग्रेजी के प्रभाव से ऑ ऍ आदि का आगमन हो गया है ड़, ढ़, य़, न्ह, म्ह आदि भी नवीन ध्वनि-संकेत हैं।

निष्कर्ष—सारांश यह है कि लिपि के विकास की मुख्य अवस्थाएँ क्रमानुसार रज्जु अथवा ग्रंथि लिपि, भाव तथा ध्वनि-बोधक चित्र लिपि तथा वस्तु अथवा मुख आकृतिक मूलक ध्वन्यात्मक लिपि हैं। ध्वन्यात्मक लिपि द्वारा निर्धारित लिपि चिन्ह कालान्तर में पूर्णतया वस्तु अथवा मुख आकृति से असम्बद्ध होकर उनके द्योतक न रहे और लिखने के ढङ्ग अर्थात् निश्चय, सरलता, सौन्दर्य, त्वरालेखन आदि लिपि गुणों के कारण समय समय पर विकृत होते रहने के कारण आधुनिक रूपों में परिवर्तित हो गए और विशुद्ध वर्णमाला बन गई जिसमें विभाषा-मिश्रण के कारण अनेकों नवीन ध्वनियों तथा चिन्हों का आगम होता रहता है।



भारत की प्राचीन लिपियाँ

मराठी, गुजराती, पर्वतिया, उड़िया, बंगला, शारदा, कनड़ी तामिल, गुरुमुखी, देवनागरी आदि आधुनिक लिपियों की वर्णमालाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से हम इस महत्व-पूर्ण परिणाम पर पहुँचते हैं कि नागरी, मराठी तथा पर्वतिया लिपियों में पूर्णतः सादृश्य है, आसामी तथा बंगला एक ही लिपि में लिखी जाती हैं, उड़िया वर्णों के सिर की घेरेदार पगड़ी, जो प्राचीन काल में लोहे की पुष्टि लेखनी से ताड़ पत्र पर लिखने के कारण उनके सिर पर रखनी पड़ती थी, उतार लेने से अनेक उड़िया वर्ण नागरी वर्णों के समान हो जाते हैं, नागरी वर्णों की सिर बन्दी हटा देने से वे गुजराती सदृश हो जाते हैं, गुरुमुखी का निर्माण शारदा के आधार पर, जिसका नागरी से बहुत सादृश्य है, हुआ है। दकन की तेलुगु तथा कनड़ी और तामिल तथा मलयालम में बहुत समानता है और द्राविड़ लिपियों का नागरी से भी सादृश्य है। इतना ही नहीं तिब्बती, बर्मी, स्यामी, काम्बोजी तथा मलय-द्वीपी लिपियों के वर्णों की भी नागरी से समानता है। सारांश यह है कि उत्तरी भारत की आधुनिक लिपियों, दक्षिणी भारत की द्राविड़ लिपियों तथा भारत के पार्श्ववर्ती देशों की लिपियों का नागरी से बहुत कुछ सादृश्य है। इन सब में वर्णमाला, स्वर-व्यंजन भेद, स्वर क्रम, व्यंजनों का वर्गीकरण, मात्रा-नियम आदि सब लगभग एक से ही हैं, किसी में दो एक ध्वनियाँ कम हैं और किसी में अधिक। जो कुछ भेद है वह नाम का है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि नागरी लिपि मूल आर्य लिपि से सम्बद्ध है। उसको बाद में द्राविड़ों ने

अपनाया। तदनन्तर भारत की पार्श्ववर्ती भाषाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा जैसा कि इससे स्पष्ट है कि पारिभाषिक शब्दों के लिये उक्त सब भाषाओं ने सदैव संस्कृत का ही सहारा लिया है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि पश्चिमोत्तर भारत की सिन्धी, क़ाफ़िर, ब्राहुई आदि पर अरबी का बहुत प्रभाव पड़ा है, तदनुसार उनकी लिपि पर सेमिटिक का विशेष प्रभाव है। अतः आधुनिक लिपियों के, विशेषतः नागरी के, इतिहास की खोज करने से प्राचीन भारतीय लिपियों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। प्रागैतिहासिक काल की खोज करने में सबसे बड़ी कठिनता प्राचीन सामिग्री का अभाव है। यद्यपि बहुत कुछ सामग्री काल-कवलित होगई है, प्राचीनपुस्तकालय आदि विध्वंसकारियों द्वारा नष्ट हो चुके हैं, अनेक शिलालेख दीवालोंमें चुने जाने पर शहीद होने का दावा कर रहे हैं अथवा खुदे होने के घमण्ड में सिलबट्टे का रूप धारण करके, छोटी मोटी वस्तुओं (मसाले, पिट्ठी आदि) को पीस कर चूर-चूर कर रहे हैं, ताम्रपत्रों ने बर्तनों का रूप धारण कर लिया है और नित्य प्रति कहारियों के कठोर हाथों के रगड़े खाते-खाते अपनी उपयोगिता खो बैठे हैं, सोने-चाँदी के सिक्के कोमल-कामिनियों के अंग का आभूषण हैं और उनके मृदुल स्पर्श का आनन्द ले रहे हैं, तदपि धरती माता ने अनेक खंडहर, शिलालेख ताम्रपत्र आदि बहुत से रत्न अपने गर्भ में छिपा रक्खे हैं जो प्राचीन स्मारक-रक्षा विभाग के प्रयत्न के फलस्वरूप समय-समय पर हमारे सम्मुख आते रहते हैं। लिपि-सम्बन्धी खोजोंका श्रेय चार्ल्स विल्किंस, जेम्स टाड आदि पाश्चात्य और हीराचन्द ओझा आदि पूर्वीय विद्वानों को है।

अशोक से पूर्व की लिपि अप्राप्य है। अशोक के शिलालेखों से प्रकट होता है कि उस समय (लगभग २५० ई० पू०) भारतवर्ष में दो लिपियाँ प्रचलित थीं—ब्राह्मी तथा खरोष्टी अथवा

खरोष्ट्री। शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के शिलालेख खरोष्ट्री में और शेष ब्राह्मी में हैं, परन्तु इसके यह मानी नहीं है कि भारत में लिपि का आविष्कार तीसरी चौथी शताब्दी पूर्व हुआ और इसके पूर्व कोई लिपि थी ही नहीं। अनेक प्रमाण ऐसे हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लिपि का आविष्कार अशोक से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका था, उदाहरणार्थ, बड़ली तथा पिपरा में दो लेख पाये गये हैं जो चौथी, पाँचवी शताब्दी ई० पू० के हैं, हड़प्पा-मोहन जोदड़ी में कुछ मुद्रायें पाई गई हैं जो १०:० ई० पू० की हैं। मेग़स्थनीज ने अपनी 'इंडिका' में लिखा है कि जन्म-पत्रिकाएं बनती थीं। 'शील' नामक ग्रन्थ में 'अक्खारिका' खेल का उल्लेख है जो उँगली अथवा सींक से लिखकर पहेली के रूप में खेला जाता था। बुद्ध-जीवनी-संबंधी पुस्तक 'ललित-विस्तर' में बुद्धजी के चाँदी की तख्ती पर स्वर्णलेखनी से लिखने का वर्णन है, तथा चीनी यात्री हुएनत्सांग का बीस घोड़ों पर ६५७ पुस्तकें लादकर लेजाना प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त यास्क के निरुक्ति तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी जैसे व्याकरणिक ग्रन्थों की रचना लिखित साहित्यिक ग्रन्थों के अभाव में होना असम्भव है। वास्तव में बात यह है कि लेखन-कला तो थी परन्तु उसका प्रयोग सम्भवतया केवल साहित्य-रचना में होता था, सर्वसाधारण में नहीं। यही कारण है कि प्राचीन काल में लिखित ग्रंथों का बहुत महत्व था, पुराणों में लिखित ग्रंथों का दान बड़ा भारीपुण्य माना गया है। यद्यपि लिपि का आविष्कार काल ठीक ठीक बताना कठिन है, तदपि इस उद्धरण से कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बाभ्रव्य के विषय में यह अनुश्रुति है कि उसने शिक्षा शास्त्र का प्रणयन किया।....... प्रणयन का अर्थ है प्रवर्त्तन, पहले-पहल स्थापित करना और चला देना।···अतः बाभ्रव्य ने वर्णों की विवेचना के विषय को एक शास्त्र का रूप दे दिया।...इससे सिद्ध है कि वह

विवेचना कुछ पहले शुरू हो चुकी और उसके समय तक पूरी परिपक्व तापा चुकी थी।...इस प्रकार भारत-युद्ध से सात पीढ़ी पहले अन्दाज़न १५५० ई० पू० में—हमारी वर्णमाला स्थापित होगई थी।"[1]

ब्राह्मी:—(१) वेबर तथा बूहलर आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ब्राह्मी का निर्माण फिनीशियन तथा अरमइक के आधार पर हुआ है। बूहलर का कहना है कि 'भारतवासियों ने १८ वर्ण समुद्री व्यापारियों द्वारा ८९० ई० पू० फिनीशियन लिपि से, २ वर्ण ७५० ई० पू० मेसोपोटामिया से और २ वर्ण छठी शताब्दी ई० पू० में अरमइक से लिए और इनके आधार पर ब्राह्मी का निर्माण किया।[2] डा० आर. एन साहा ने भी इसे अरबी से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके कथनानुसार यह बनारस की ब्रह्म भट या वेताल भट लिपि थी और राजपूताने के 'दस नामीय' सन्यासी भाटों द्वारा प्रयुक्त होती थी। इसे भट लिपि अथवा ब्रह्मी लिपि भी कहते थे। इसमें भी अरबी की भांति ही मात्रा तथा मध्य स्वरों का अभाव था और केवल २८ वर्ण थे। कोलब्रुक, कनिंघम, फ्लीट, ओझा, जायसवाल आदि इस मत से सहमत नहीं हैं, उन्होंने ब्राह्मी को भारत की ही उपज माना है। कनिंघम का सबसे बड़ा विरोध यह है कि ब्राह्मी संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि भारतीय लिपियों की भाँति बाईं ओर को लिखी जाती थी, परन्तु सेमीटिक उर्दू-फ़ारसी की भाँति दाईं ओर को लिखी जाती है। इस पर बूहलर ने 'एरण' के सिक्के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मी भी पहले दाईं ओर को लिखी जाती थी और इसके अवशेष चिन्ह अशोक के शिला लेखों में अब भी पाए जाते हैं। उदा-

१ जयचन्द विद्यालंकार 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' जिल्द १, पृष्ठ २११

२, इण्डियन पेलिओग्राफी' पृष्ठ १५

हरणार्थ ध, त, ओ व्यञ्जन उल्टे पाए जाते हैं तथा कुछ संयुक्त व्यञ्जनों में भी उलट-फेर है यथा प्त, त्स, ट्व के स्थान में त्प, स्त व्य आदि खुदे पाए जाते हैं। इस पर ओझा आदि विद्वानों का कहना है कि इधर सेमिटिक में केवल २२ वर्ण १८ उच्चारण-ध्वनियों के द्योतक हैं, वर्णों में न तो क्रम ही है और न स्वर-व्यञ्जन विभाग तथा स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद ही, और मात्राओं तथा संयुक्ताक्षरों का भी अभाव है, उधर ब्राह्मी में ६३ ६४ वर्ण हैं, व्यञ्जनों के साथ स्वरों का मात्रा के रूप में सहयोग होना केवल ब्राह्मी की ही विशेषता है और प्रत्येक ध्वनि के लिए एक पृथक् लिपिचिन्ह है, यहाँ तक अनुस्वार तक का एक पृथक् चिन्ह है। अतः यह असम्भव है कि ६३, ६४, मूल उच्चारणों वाली सर्व प्रकार से पूर्ण ब्राह्मी लिपि एक २२ वर्ण वाली सेमिटिक जैसी दरिद्र लिपि से निष्क्रमित हो और स्वयं २२ वर्ण भी न बना सके। अतः बूहलर के मत का बराबर विरोध होता रहा। १९१७ ई० में हैदराबाद की समाधियों में मिले बर्तनों तथा पत्थरों की खुदाई से बूहलर का मत निराधार सिद्ध हो गया। उन बर्तनों के पाँच लिपिचिन्ह स्पष्टतया अशोक कालीन लिपि से मिलते हैं। इन पत्थरों की भुराभुराहट से, जो कि हाथ लगते ही चूर-चूर हो गए, जायसवाल का अनुमान है कि लगभग २००० ई० पू० के हैं। इस प्रकार ब्राह्मी की उत्पत्ति सेमिटिक काल अर्थात १००० ई० पू० के पूर्व हो चुकी थी। जायसवाल ने तो ब्राह्मी के सेमीटिक उद्भव का इतना विरोध किया है कि अनेक युक्तियों से सामी को ही ब्राह्मी से उत्पादिक ठहराया है। उन का मत है कि ब्राह्मी तथा सामी वर्णों में समानता इसलिए नहीं है कि ब्राह्मी सामी से निकलती है, अपितु इसलिए है कि सेमीटिक रूपों की उत्पत्ति ब्राह्मी से हुई है। क्योंकि उत्तरी तथा दक्षिणी सामी में एक ही उच्चारण के लिए भिन्न-भिन्न चिन्ह हैं, परन्तु वे सब ब्राह्मी

से मिलते हैं। अतः यदि ब्राह्मी सामी से निष्क्रमत होती, तो उसके एक रूप से उधार लेती न कि भिन्न-भिन्न रूपों से थोड़ा थोड़ा। अतएव सामी की भिन्न-भिन्न लिपियों ने ही ब्राह्मी से उधार लिया है न कि ब्राह्मी ने सामी से। ब्राह्मी का मूल अर्थ है 'पूर्ण'। कोई भी लिपि यकायक पूर्ण नहीं हो सकती, वह धीरे-धीरे विकसित होकर कुछ समय पश्चात् पूर्ण होती है। भारत में ब्राह्मी से पूर्व भी कोई अपूर्ण लिपि अवश्य रही होगी जिसका आविष्कार सेमिटिक काल से सकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका होगा।

अतः ब्राह्मी लिपि भारत की ही उपज है, किसी विदेशी लिपि की नहीं। इसकी पुष्टि चीनी विश्व-कोष 'फा-युअन-चुलिन' से भी होती है, जिसमें ब्राह्मी लिपि ब्रह्मा नाम के भारतीय आचार्य द्वारा प्रवर्तित बताई गई है। यहाँ इसकी सुन्दरता के विषय में दो एक उद्धरण देना अनुचित न होगा। ओझा का कथन है कि,'यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग-सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा; चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका फिनीशिअन से कुछ भी संबंध नहीं।' † टेलर का कथन है कि, ब्राह्मी लिपि एक अत्यन्त पूर्ण और अद्वितीय वैज्ञानिक आविष्कार है। ‡ एडवर्ड थामस का कथन है कि, 'ब्राह्मी अक्षर भारत वासियों की मौलिक उपज हैं और उनकी सरलता से बनाने वालों की बुद्धिमत्ता प्रगट होती है।' ※ लॅसन आदि विद्वानों का कथन भी इसी सत्य की पुष्टि करता है। 'चूँकि इसका प्राचीनतम प्राप्य रूप काफ़ी प्रौढ़ और किसी विदेशी उत्पत्ति से अपनी

† ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला' पृष्ठ २८ ‡ टेलर,'एल्फ़ाबेट', भाग १ पृष्ठ ५०
※ 'हिन्दी विश्व-भारती' खंड २ पृष्ठ १०३६

स्वतन्त्रता प्रगट करता है, अतएव वर्षों पूर्व इसका निर्माण किया जाना ही संभव हो सकता है।'

सारांश यह है कि ब्राह्मी लिपि जो सर्वाङ्ग-पूर्ण तथा सुन्दर है, भारतीय उपज है। जायसवाल के मतानुसार इसकी उत्पत्ति २००० ई० पू० में और बाभ्रव्य विषयक अनुश्रुति के अनुसार इसकी स्थापना १५५० ई० पू० में हो चुकी थी। अशोक के शिलालेखों से प्रकट है कि मौर्यकाल में इसका उत्तरी भारत तथा लंका में प्रचुर प्रचार था। 'पन्नवणा सूत्र' तथा 'समवायांग सूत्र' नामक जैन ग्रंथों में इसका नाम 'बंभी लिपि' दिया है और १८ लिपियों की नामावली में यह सबसे ऊपर है। 'ललित-विस्तर' की ६४ लिपियों में भी ब्राह्मी सर्व प्रथम नाम है। 'भगवती सूत्र' में प्रारम्भ में ही 'नमो बंभीए' शब्दों द्वारा इसकी वंदना की गई है। अतः इसका प्राचीन अथवा पाली नाम बंभी था और उस समय इसका बहुत आदर था। सब से प्राचीन प्राप्य लिपि अशोकी ब्राह्मी ३०० ई० पू० की है। यद्यपि पिपरावा का मटके पर का लेख तथा बड़ली का खंड लेख ४००, ५०० ई० पू० के, हड़पा तथा मोहन-जोदड़ो की मुद्राएँ १००० ई० पू० की तथा हैदराबाद के बर्तनों पर के ५ चिन्ह संभवतः २००० ई० पू० के भी पाए गए हैं, जिनमें मात्राएँ स्पष्ट हैं और अशोकी लिपि के सादृश्य है, परन्तु बोधगम्य न होने के कारण इनसे अभी तक कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकल सका है।

(२) खरोष्ठी—खरोष्ठी का चीनी अर्थ है गधे के ओष्ठ वाली, और चीनी विश्व कोष 'फा-युअन-चुलिन' ने इसको भारतीय आचार्य खरोष्ठ द्वारा उत्पादित बताया है। बूहलर ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। डा० प्रजिलुस्की के मतानुसार यह प्रारंभ में गधे की खाल पर लिखी जाती थी और खरोष्ठी खरपृष्ठी का अपभ्रंश है, परंतु बाद में अपने आविष्कर्त्ता

खरोष्ठ ऋषि के नाम पर खरोष्ठी कहलाने लगी। इन मतों के अनुसार खरोष्ठी भी भारत की ही उपज ठहरती है, परन्तु इसके मानने में कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो यह ब्राह्मी आदि भारतीय लिपियों की भाँति बाईं ओर से दाईं ओर को नहीं लिखी जाती हैं; द्वितीय इसमें संयुक्ताक्षरों की कमी और ह्रस्व दीर्घ भेद तथा मात्राओं का अभाव है जो कि भारतीय लिपियों की अपनी निजी विशेषता है तृतीय भारत का सब से प्राचीन साहित्य धर्म-ग्रन्थ है, परन्तु खरोष्ठी का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसका ब्राह्मणों के धर्म ग्रन्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ब्राह्मी से उत्तरी भारत की आधुनिक लिपियाँ निष्क्रमित हुई हैं उस प्रकार खरोष्ठी से पश्चिमोत्तर भारत की कोई लिपि नहीं निकलती, प्रयुक्त स्वयं इसकी भी तीसरी शताब्दी के पश्चात् ही अवनति होने लगी। अतः न तो इसका भारतीय लिपियों से सम्बन्ध ही है और न यह भारत की उपज ही है। इसका निर्माण किसी विदेशी लिपि के आधार पर हुआ है। डा० सिलवान लेवी ने एक चीनी ग्रन्थ के आधार पर इसका नाम खरोष्ठी बताया है और इसको भारत के निकट-वर्ती खरोष्ट्र देश की उपज माना है। अतएव यह तो निश्चय है कि यह विदेशी लिपि है। अब प्रश्न यह है कि इसका उद्भव किस लिपि से हुआ और यह भारत में किस प्रकार आई। खरोष्ठी का प्रचार केवल पश्चिमोत्तर भारत में था जहाँ की सिन्धी, गल्चा काफ़िर, ब्राहुई आदि भाषाओं तथा लिपियों पर अब तक सेमि-टिक वर्ग की अरबी भाषाओं का प्रभाव पाया जाता है और चूंकि यह भी अरबी की भाँति दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है, अतः इसकी उत्पत्ति सेमिटिक लिपि से हुई है। डाउवेल, भंडारकर आदि इतिहासज्ञों का मत है कि खरोष्ठी का निष्क्रमण अरमइक से हुआ है जो कि छठी शताब्दी ई० पू०

पारसी राज्यकाल में सम्पूर्ण हखामनी साम्राज्य की राज्यलिपि थी और जिसका मिश्र से हिन्दूकुश तक प्रचार था। डा० जॉन मार्शल का मत है कि खरोष्ठी का प्रचार सर्वप्रथम गांधार में हुआ। इस की पुष्टि तक्षशिला के शिलालेख से भी होती है। जब भारत के पश्चिमोत्तर आँचल अर्थात् कम्बोज, गांधार तथा सिन्ध प्रदेश पर लगभग ५१६ ई० पूर्व के पश्चात् ईरानियों का अधिकार हो गया तो उन्होंने भारतवासियों को भी अरमइक सिखाई। चूँकि इसमें केवल २२ लिपिचिन्ह १८ उच्चारण-ध्वनियों के द्योतक थे और काम नहीं चलता था, अतः खरोष्ठ अथवा खरोष्ट्र आदि किसी आचार्य ने भारतीय भाषाओं की उन उच्चारण-ध्वनियों के लिपिचिन्ह भी इसमें निर्मित कर दिए जिनका इसमें अभाव था यही हमारी खरोष्ठी लिपि थी। इसकी पुष्ठि स्वरूप ओझा का एक उद्धरण देना अधिक अच्छा होगा, जब ईरा-नियों का अधिकार पंजाब के कुछ अंश पर हुआ तब उनकी राजकीय लिपि अरमइक का वहाँ प्रवेश हुआ, परन्तु उसमें केवल २२ अक्षर, जो आर्यभाषाओं के केवल १८ उच्चारणों को व्यक्त कर सकते थे, होने तथा स्वरों में ह्रस्व दीर्घ भेद का और स्वरों की मात्राओं के न होने के कारण यहाँ के विद्वानों में से खरोष्ठी या किसी और ने नए अक्षरों तथा ह्रस्व स्वरों की मात्राओं की योजना कर मामूलीपढ़े हुए लोगों के लिए, जिनको शुद्धाशुद्ध की विशेष आवश्यकता नहीं रहती थी; काम चलाऊ लिपि बना दी। प्राचीन तम खरोष्ठी शिलालेख तीसरी शताब्दी ई० पू० का है। इससे प्रकट है कि उस समय इसमें २२ मूल वर्णों के अतिरिक्त अन्य भारतीय ध्वनियों के द्योतक लिपि-चिन्ह भी थे अतः उस समय इसका भारत के पिश्चमोत्तर आँचल पर खूब प्रचार था। इसके चीनी तुर्किस्तान तक प्रचार तथा उन्नति का कारण संभवतया कुषाण राज्य था।'*

* ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला,' पृष्ठ १७

सारांश यह है कि खरोष्ठी दाईं ओर से बाईं ओर लिखी जाने वाली एक अपूर्ण लिपि थी जिसमें संयुक्ताक्षरों की कमी और मात्राओं का अभाव था। अरमइक को काट छाँट कर खरोष्ठी की स्थापना करने का कार्य संभवतः खरोष्ठ ऋषि ने किया था। बाद में इसका इतना प्रचार हुआ कि लगभग ४२५ ई० पू० में उत्तरी-पश्चिमी भारत के इखामनी साम्राज्य से स्वतंत्र हो जाने पर भी तीसरी शताब्दी ई० पू० में इसका [illegible] प्रचार था, परन्तु इससे किसी लिपि का निष्क्रमण न [illegible] कारण इसका वंश न चल सका और लगभग पाँचवी शताब्दी तक इसका पूर्णतः अंत हो गया।

ब्राह्मी का विकास

लगभग ३५० ई० पू० तक ब्राह्मी का प्रचार अधिक और रूप अपरिवर्तित रहा, तत्पश्चात् शैली की दृष्टि से उसके उत्तरी तथा दक्षिणी दो भेद होगये। दक्षिणी से दक्षिणी भारत की मध्य तथा आधुनिक-कालीन लिपियों अर्थात तामिल, तेलुगु, कनड़ी, कलिङ्ग, ग्रंथ, पश्चिमी तथा मध्य प्रदेशी आदि का निष्क्रमण हुआ। चौथी शताब्दी में उत्तरी ब्राह्मी वर्णों के सिरों के चिन्ह कुछ लंबे कुछ वर्णों की आकृतियाँ कुछ-कुछ नागरी सदृश तथा कुछ मात्राओं के चिन्ह परिवर्तित होगये। गुप्त राज्य के प्रभाव से ब्राह्मी का यह रूप गुप्त-लिपि कहलाने लगा। चौथी पाँचवी शताब्दी में इसका प्रचार समस्त उत्तरी भारत में था। छठी शताब्दी में गुप्त-लिपि के वर्णों की आकृति कुछ कुटिल होगई, तदनुसार, ये वर्ण कुटिलाक्षर और लिपि कुटिल कहलाने लगी। इसका छठी से नवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में खूब प्रचार था तत्कालीन शिलालेख तथा दानपत्र इसी में लिखे जाते थे। कुटिल लिपि से, संभवतःदसवीं शताब्दीमें,नागरीतथाशारदाका निष्क्रमण

हुआ। आधुनिक काश्मीरी तथा टक्री का निष्क्रमण शारदा से ही हुआ है। गुरुमुखी का निर्माण भी सिक्ख गुरु अंगदेव द्वारा शारदा के आधार पर ही हुआ है। नागरी को देवनागरी भी कहते हैं। 'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कई एक मत हैं। (१) आर. शामा शास्त्री के मतानुसार प्राचीनकाल में जब देवताओं की प्रतिमायें नहीं बनी थीं, उनकी पूजा के लिये उनके सांकेतिक चिन्ह भाँति-भाँति के त्रिकोणादि यंत्रों में, जिन्हें देव-नागर कहते थे, लिखे जाते थे। कालान्तर में ये देवचिन्ह उच्चारण ध्वनिसूचक लिपिचिन्ह बन गये, अतः यह लिपि देवनागरी कहलाई। (२) इस लिपि के लिपि-चिन्हों तथा तान्त्रिक चिन्हों में जो देवनगर' कहलाते थे, बहुत कुछ सादृश्य था, अतः इस लिपि का नाम देवनागरी पड़ गया। (३) प्राचीन कालके नागर ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण यह नागरी कहलाई। (४) नगरों में प्रचलित होने के कारण इसका नाम नागरी होगया, यद्यपि निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि वह लिपि देवनागरी अथवा नागरी क्यों कहलाई, परंतु चूँकि अनेक विद्वान प्राचीन शिलालेखों के लिपि-चिन्हों को 'देवताओं के अक्षर' 'सिद्धदायक मंत्र' 'गढ़े धन के बीजक' आदि कह कर उनका अध्ययन करने से बचते रहे हैं, अतः सम्भव है इसका 'देव नगर' अर्थात् देव-संकेतों अथवा तान्त्रिक चिन्हों से कुछ सम्बन्ध हो और नागरी देव-नागरी का संक्षिप्त रूप हो। नागरी लिपि के दो रूप हैं, उत्तरी नागरी तथा दक्षिणी नागरी। दक्षिणीनागरी 'नंदि नागरी' भी कहलाती थी; संभवतः इसकी उत्पत्ति उत्तरीनागरी के पूर्व हुई थी। दक्षिण भारत में इसके प्राचीन लेख ही नहीं पाए जाते प्रत्युत यह संस्कृत ग्रन्थों में अभीतक लिखी भी जाती है। उत्तरी भारत की तीन अवस्थायें हैं प्राचीन, मध्यकालीन, तथा आधु-निक अथवा वर्तमान। दसवीं शताब्दी में कुटिल लिपि परिवर्तित

होकर प्राचीन नागरी होगई, जिसमें 'अ, आ, घ, प, म, य, ष, और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं।'[1] इसके पूर्वी रूप से प्राचीन बँगला लिपि निकली जिससे आधुनिक बँगला, आसामी, मैथिली, उड़िया तथा नैपाली की उत्पत्ति हुई। मराठी गोरखाली अथवा पर्वतिया, महाजनी (मुड़िया) तथा कैथी भी प्राचीन नागरी के ही विकसित रूप हैं। गुजराती का निर्माण कैथी के आधार पर हुआ है। प्राचीन नागरीके ग्यारहवीं शताब्दी के रूप को मध्यकालीन नागरी कह सकते हैं। इसमें वर्णोंके ऊपर की सिरबंदी के दोनों अंश मिलकर एक होगये। बारहवीं शताब्दी में वर्णों का वह रूप होगया जो आजकल प्रचलित है। तब से लिपि में कोई विशेष परिवर्तन तो नहीं हुआ है, परन्तु कुछ साधारण परिवर्तन अवश्य हुये हैं। उदाहरणार्थ लगभग डेढ़ दो सौ वर्ष पहिले तक प्रत्येक वर्ण अथवा अक्षर पृथक-पृथक लिखा जाता था और शब्दों के बीच स्थान नहीं के बराबर छोड़ा जाता था, परन्तु इधर कुछ कालसे दो वर्णों अथवा अक्षरोंके बीच स्थान नहीं छोड़ा जाता और दो शब्दों के बीच स्थान छोड़ा जाने लगा है अर्थात किसी शब्द के समस्त वर्णों पर एक सिरबंदी लगाई जाती है और दो शब्दों की सिरबंदियों के बीच स्थान छोड़ा जाता है। आजकल ङ, ञ, अर्द्ध न, म तथा ण, तथा ँ (चंद्रबिंदु) का प्रायः लोप सा होता जारहा है और इनके स्थान में अनुस्वार (ं) का प्रयोग बढ़ रहा है। अ, ण, ल, के स्थान में मराठी अथवा प्राचीन अ, ण. ल, अधिक प्रचलित होरहे हैं और सिरबंदी लगाने की प्रथा भी (प्रायः लिखने में) उठती सी जारही है। संभव है, किसी समय नागरी भी गुजराती की भाँति सिरमुण्डी हो जाय। यद्यपि भाषा तथा लिपि दोनों नितांत भिन्न हैं परंतु किसी भाषा के अधिक प्रचलित होने के कारण प्रायः उसमें तथा उसकी लिपि

१ ओझा 'प्राचीन लिपिमाला', पृष्ठ ६०

में व्यवहारिक रूप से अभिन्नता होजाती है और लिपि भी भाषा के नाम से पुकारी जाने लगती है। यही कारण है कि देवनागरी अथवा नागरी लिपि हिन्दी के नाम से अधिक प्रचलित है।

सारांश यह है कि उत्तरी भारत की समस्त आधुनिकलिपियाँ उत्तरी ब्राह्मी के विकसित रूप प्राचीन नागरी से और दक्षिणी भारत की लिपियाँ दक्षिणी ब्राह्मी से उत्पन्न हुई हैं।

यहाँ नागरी वर्णों का संक्षिप्त इतिहास दे देना अनुचित न होगा। (वर्णों तथा अंकों के विकास चित्र में ब्राह्मी वर्णों का विकास देखो)।

इतिहास*—अशोक के पूर्व की लिपि अप्राप्य है, अतः समस्त वर्णों के प्रथम रूप अशोक कालीन हैं।

अः—का दूसरा रूप कुशन राजाओं के लेखों में (दूसरी शता०) उच्छकल्प के महाराज शर्वनाथ के ताम्रपत्र में (५१२ ई०) तथा राजा अपराजित के लेख में (६६१ ई०) प्राप्य है। तीसरा रूप निकटतः दूसरे रूप के समान है। चौथे और पाँचवें रूप ६ वीं तथा १३ वीं शता० के बीच के हैं और इनमें जो कुछ रूपान्तर हुये हैं, वे सुन्दरता के कारण हुये हैं।

इः—का दूसरा रूप समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ वाले लेख में (४ थी शता०) तथा स्कन्दगुप्त कालीन कहाउँ के लेख में (४६० ई०) उपलब्ध है। तीसरे रूप में सिरबन्दी लगाने का यत्न किया गया है। चौथा रूप हैहय वंशी राजा जाजल्लदेव के लेख (११४ ई०) तथा कुछ प्राचीन हस्त लिखित पुस्तकों में प्राप्य है। पाँचवाँ रूप १३ वीं शता० के शिला लेखों तथा पुस्तकों में उपलब्ध है।

उः—दूसरा रूप कुशन राजाओं के लेखों में प्राप्य है। शेष रूपान्तर सुन्दरता के कारण हुये हैं।

ए:—का दूसरा रूप समुद्रगुप्त के लेख तथा अन्य कई लेखों में प्राप्य है। तीसरे रूपान्तर का कारण सुन्दरता है। चौथा रूप यशोधर्मन के मंदसौर के लेख (५३२ ई०) तथा मारवाड़ के राजा कक्कुक के समय के लेख में (८६१ ई०) उपलब्ध है। पाँचवाँ रूप राठौर राजा गोविन्दराज के लेख में (८०७ ई०), परमार राजा वाक्पति के लेख में (९७४ ई०) और कलचुरी राजा कर्णदेव के ताम्रपत्रों में (१०४२ ई०) उपलब्ध है।

क:—का दूसरा रूप सिरबन्दी लगाने की चेष्टा का फल है। तीसरा रूप उक्त राजा कर्णदेव के ताम्रपत्र में उपलब्ध है। चौथा रूप भी कई एक लेखों में प्राप्य है।

ख:—का दूसरा रूप कुशन राजाओं के लेखों में तथा क्षत्रप रुद्र दामन के गिरनार के लेख में (२ री शता०) उपलब्ध है। शेष रूपान्तर सुन्दरता के फल स्वरूप हुये हैं।

ग:—का दूसरा रूप सोडास तथा नहपान क्षत्रिय राजाओं के लेखों में पाया जाता है। शेष रूपान्तर सिरबंदी लगाने की चेष्टा के फल स्वरूप हुये हैं।

घ:— का दूसरा रूप राजा यशोधर्मन के मंदसौर के लेख में उपलब्ध है। शेष रूपान्तर सिरबंदी लगाने तथा त्वरा लेखन के कारण हुये हैं।

ङ:—यह अशोक कालीन लेखों में नहीं मिलता। इसका पहिला रूप समुद्रगुप्त के लेख के एक संयुक्ताक्षर में पाया जाता है। बाद में इसके नीचे की गोलाई बढ़ने के कारण इसका रूप 'ड' के समान होने लगा। अतः भिन्नता लाने के लिये ८ वीं शताब्दी में इसके अंत में एक बिंदी सी लगाई जाने लगी।

च:—के पहिले के बाद के समस्त रूपान्तर सिरबंदी लगाने सुन्दरता लाने तथा त्वरा लेखन के कारण हुये हैं।

छ:—का दूसरा रूप पहिले का रूपान्तर मात्र है। तीसरा

रूप कन्नौज के गहरवार राजा जयचंद के ताम्रपत्र (११७५ ई०) तथा मालवा के परमार वंशी महाकुमार उदय वर्मा के ताम्रपत्र (१२०० ई०) में उपलब्ध है।

जः—के पहिले के बाद के समस्त रूपान्तर सुन्दरता लाने, सिरबंदी लगाने तथा त्वरा लेखन के कारण हुये हैं।

झः—का दूसरा रूप ब्राह्मण राजा शिवगण के कसवाँ के लेख में (७३८ ई०) उपलब्ध है। तीसरा रूप राठौर राजा गोविंदराज तृतीय के ताम्रपत्र में (८०७ ई०) में प्राप्य है। चौथा रूप जैन पुस्तकों में प्राप्य है और राजपूताने में प्रयुक्त होता है। यह 'भ' से मिलता-जुलता है।

ञः—का दूसरा रूप उक्त राजा अपराजित कालीन एक लेख में (६६१ ई०) में प्राप्य है तीसरा रूप कुमारगुप्त कालीन मन्दसौर के लेख में (४७२ ई०) उपलब्ध है। चौथा रूप तीसरे का रूपान्तर है।

टः—के पहिले के बाद के रूपान्तर सिरबंदी लगाने तथा सुन्दरता लाने की चेष्टा के फल स्वरूप हैं।

ठः—के पहिले के बाद के रूपान्तर सिरबंदी लगाने के कारण हुये हैं।

डः—का दूसरा रूप त्वरालेखन के कारण पहिले रूप से बना है और जैन राजा खारवेल के हाथी गुम्फा के लेख में (२ री शता० पूर्व) उपलब्ध है। शेष रूपान्तर त्वरालेखन अथवा सुन्दरता लाने के कारण हुये हैं।

ढः—का दूसरा रूप सिरबंदी लगाने के कारण बना है। यह आज तक अपने इसी रूप में है।

णः—का दूसरा तथा तीसरा रूप कुशान लेखों में उपलब्ध है। चौथे रूप सिरबंदी लगा देने से 'ण' और छठे रूप में सिरबन्दी लगा देने से 'ण' बना है।

(२ री शता० पूर्व) प्राप्य है। तीसरा रूप कुशन लेखों में और चौथा और कई एक लेखों में उपलब्ध है। पाँचवाँ रूप चौथे का रूपान्तर है।

ध:—का दूसरा रूप कन्नौज के परिहार राजा भोजदेव के ग्वालियर के लेख में (८७६ ई०) तथा देवलगांव की प्रशस्ति में (९९२ ई०) में उपलब्ध है। तीसरा रूप कन्नौज के उक्त राजा जयचंद के ताम्रपत्र में प्राप्य है। चौथा रूप तीसरे रूप में सिरबन्दी लगाने से बना है।

न:—का दूसरा रूप रुद्रदामन के उक्त लेख में उपलब्ध है। तीसरा रूप राजानक लक्ष्मणचन्द कालीन वैद्यनाथ के लेख में (८०४ ई०) प्राप्य है। चौथा रूप तीसरे का रूपान्तर मात्र है जो कि सुन्दरता लाने के कारण बना है।

प:—पहिले के बाद के समस्त रूपान्तर सुन्दरता लाने तथा त्वरालेखन के कारण हुये हैं।

फ:—का दूसरा रूप पहिले का रूपान्तर है। तीसरा रूप समुद्रगुप्त के लेख में उपलब्ध है। शेष रूपान्तर त्वरालेखन तथा सुन्दरता के कारण हुये है।

ब:—का दूसरा रूप राजा यशोधर्मन के उक्त मंदसौर लेख में उपलब्ध है। तीसरा रूप दूसरे का रूपान्तर है और उस समय के 'प' अथवा 'य' के समान है। अतः भिन्नता लाने के लिये चौथे रूप में बीच में भीतर मध्य में एक बिन्दु लगा दिया गया। पाँचवाँ रूप चौथे का ही रूपान्तर है जो सुन्दरता के कारण हुआ है और गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव के ताम्रपत्र में (१०२९ ई० पाया जाता है।

भ:—का दूसरा रूप कुशन लेखों में और तीसरा स्कन्दगुप्त के इन्दौर के ताम्रपत्र में (४६५ ई०) प्राप्य है। चौथा रूप तीसरे का रूपान्तर मात्र है।

म:—के पहिले के बाद के रूप सिरबन्दी लगाने तथा सुन्दरता लाने की चेष्टा के फल स्वरूप बने हैं।

य:—का दूसरा रूप पहिले रूप से त्वरालेखन के कारण बना है। यह भी अशोक के लेखों में पाया जाता है। शेष रूप इसीसे सुन्दरता लाने तथा सिरबंदी लगाने के कारण बने हैं।

र:—का दूसरा रूप सुन्दरता लाने के कारण बना है। यह बौद्ध श्रमण महानामन के लेख में (५८८ ई०) उपलब्ध है। शेष रूपान्तर त्वरालेखन अथवा सुन्दरता के कारण हुये हैं।

ल:—का दूसरा लेख हूण राजा तोरमाण के लेख में (५०० ई० के निकट) और तीसरा कई एक लेखों में उपलब्ध है। शेष रूप सिरबंदी लगाने सुन्दरता लाने तथा त्वरालेखन के कारण बने हैं।

व:—का दूसरा रूप पहिले से त्वरालेखन तथा, सिरबन्दी लगाने के कारण और दूसरे से तीसरा सुन्दरता लाने के कारण बना है।

श:— के पहिले के बाद के रूप त्वरालेखन, सुन्दरता तथा सिरबंदी लगाने के कारण बने हैं।

ष:—अशोक के लेखों में इसका अभाव है। इसका पहिला रूप घोसुंडी के शिलालेख में (दूसरी शता० पूर्व) में उपलब्ध है। शेष रूप त्वरालेखन तथा सिरबंदी लगाने से बने हैं।

स:—का दूसरा रूप पहिले में सिरबंदी लगाने से बना है। तीसरा रूप गुप्त लेखों में और चौथा कई अन्य लेखों में प्राप्य है। पाँचवाँ रूप चौथे से सुन्दरता लाने अथवा त्वरालेखन के कारण बना है।

ह:—का दूसरा रूप पहिले का रूपान्तर है। तीसरा रूप महाराज शर्वनाथ के एक ताम्रपत्र में उपलब्ध है। चौथा रूप भी

तीसरे से सुन्दरता के कारण बना है और कई एक लेखों में पाया जाता है।

क्षः—यह 'क' तथा 'ष' के संयोग से बना है और संयुक्त वर्ण है। १० वीं शता० तक यह संयुक्ताक्षर के रूप में ही पाया जाता था। बाद में सुन्दरता के चक्कर में पड़ कर इसका वर्त्तमान रूप बन गया और यह एक स्वतन्त्र वर्ण ही समझा जाने लगा। इसका प्रथम रूप उक्त क्षत्रिय राजा सोडास के मथुरा के लेख में उपलब्ध है। शेष रूप इसी के रूपान्तर हैं जो त्वरा लखन, सिरबंदी लगाने तथा सुन्दरता लाने के कारण बने हैं।

ज्ञः—यह भी 'क्ष' तथा 'त्र' की भाँति एक संयुक्ताक्षर है और 'ज' तथा 'ञ' के संयोग से निर्मित हुआ है। बाद में यह भी एक स्वतन्त्र वर्ण समझा जाने लगा। इसका प्रथम रूप उक्त रुद्रदामन के लेख में उपलब्ध है। शेष रूप इसी के रूपांतर हैं जो कि सुन्दरता, सिरबंदी तथा त्वरालेखन के कारण बने हैं।

अंकों का विकास

अंकों की उत्पत्ति तथा विकास का ओझा जी ने बहुत सुन्दर विवेचन किया है और उसकी उपस्थिति में कुछ कहना धृष्टता मात्र है, तदपि संक्षेप में यहाँ कुछ कह देना अनुचित न होगा। प्राचीन तथा अर्वाचीन अंकों में बहुत भेद है। सब से बड़ा भेद तो यह है कि प्राचीन-काल में शून्य का चिन्ह नहीं था, केवल १ से ९ तक अंक-चिन्ह थे; दूसरे जिस प्रकार आजकल समस्त संख्याएँ १ से १० तक के अंकों के आधार पर लिखी जाती हैं उस प्रकार प्राचीन काल में संख्याओं का आधार १ से ६ तक के अंक न थे;

नोट:—सिरबंदी बहुधा वर्णों में उनके दूसरे अथवा तीसरे रूप में लगी है।

तीसरे आजकल जिस प्रकार शून्य (०) बढ़ा कर दहाई, सैकड़ा, हज़ार आदि बनाने का नियम है प्राचीन काल में वैसा न था; उस समय १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, १००० के लिए पृथक-पृथक् चिन्ह थे (इसके ऊपर के संख्या-चिन्ह अप्राप्य हैं) जैसे ४० के लिए 'स' ६० के लिए 'प्र', इत्यादि अर्थात् दहाई सैकड़ा आदि का बोध उर्दू रकमों की भाँति अक्षरों जैसे चिन्हों से होता था। इसकी पुष्टि ओझा जी के इस कथन से होती है कि, 'इन अंकों में अनुनासिक, जिव्हामूलीय और उपध्मानीय का होना प्रकट करता है कि उनका ब्राह्मणों ने निर्माण किया था न कि वाणिआओं ने और न बौद्धों ने।' [१] वर्णों के अंक द्योतक होने के उदाहरण अन्य लिपियों में भी पाए जाते हैं जैसे रोमन अंक I. V. X. L. M आदि, ग्रीक अंक, A B आदि, उर्दू ١, ٣ आदि, हिन्दी ५ का प्राचीन रूप ৭ इत्यादि। अरबी में तो ८ वीं शता० तक १ से १००० तक की सभी गिन्तियाँ वर्णों में थीं यथा। ط–ح–ز–و–ه–د–ج–ب–ا क्रमशः १,२,३,४,५,६,७,८,९ के ص–ف–ع–س–ن–م–ل–ک–ی क्रमशः १०, २०, ३०, ४०, ५० ६०, ७०, ८०, ९०, के और غ–ظ–ض–ذ–خ–ث–ت–ش–ر–ق क्रमशः १००, २००, ३००, ४००, ५०० ६००, ७००, ८००, ९००, १०००, के द्योतक थे।

के लिए १०० का चिन्ह लिख कर उसके ऊपर, नीचे, मध्य अथवा दाहिनी ओर एक आड़ी रेखा लगा दी जाती थी, ३०० के लिए वैसी ही दो रेखाएँ लगा दी जाती थीं, परन्तु ४०० से ६०० तक के लिए ऐसा नहीं था, इसके लिए १०० का चिन्ह लिख कर उसके आगे एक छोटी सी आड़ी रेखा लगा दी जाती थी और उसके पश्चात् ४०० से ९०० तक के लिए क्रमशः ४ से ९ तक के अंक लिख दिए जाते थे। अतः १०१ से ९९९ तक की संख्या, सैकड़े के चिन्ह के आगे दहाई का चिन्ह और अन्त में इकाई का अंक लिख कर लिखी जाती थी, उदाहरणार्थ ३४५ के लिए ३००+४०+५ अर्थात् पहिले ३०० का चिन्ह, फिर दाहिनी ओर को २० का चिन्ह और अन्त में ५ इकाई लिख दी जाती थी। यदि संख्या में दहाई अथवा इकाई नहीं होती थी, तो उस का अंक नहीं लिखा जाता था, उदाहरणार्थ ५०१ में ५०० और १ अर्थात् ५०० के बाद १ इकाई लिखी जाती थी और दहाई का अभाव रहता था, ५१० में ५०० और १० अर्थात ५०० के बाद १० (१ दहाई) का चिन्ह लगा दिया जाता था और इकाई का अभाव रहता था। २००० से ९९०० तक की संख्याएँ भी उसी प्रकार लिखी जाती थीं जिस प्रकार कि २०० से ९०९ तक की संख्या के लिए १००० के चिन्ह के दाहिनी ओर ऊपर की तरफ एक छोटी सी आड़ी अथवा नीचे को मुड़ी हुई सी रेखा लगा दी जाती थी, ३००० के लिए वैसी ही दो रेखाएँ लगा दी जाती थीं परन्तु ४००० से ९००० तक के लिए १००० का चिन्ह लिख कर एक छोटी सी आड़ी रेखा से क्रमशः ४ से ९ तक के अंक जोड़ दिए जाते थे। इसी प्रकार १०००० से ९०००० तक के लिए सम्भवतः १००० के चिन्ह के बाद एक छोटी आड़ी सी रेखा से १० से ९० तक के दहाई चिन्ह जोड़ दिए जाते थे। अतः

९९९९९ की संख्या ९०००० + ९००० + ९०० + ९० + ९ के चिन्ह लिख कर लिखी जाती थी।

अक्षरांकों के विषय में कुछ समय पूर्व प्रिन्सेप आर्यभट्ट आदि विद्वानों का यह मत था कि उनकी उत्पत्ति उनके सूचक शब्दों के प्रथम अक्षरों से हुई है जैसे फा [illegible], सेह [illegible] से [illegible], हि० पंच से ५, अं० four से 4. इत्यादि परन्तु बाद में बूहलर, भगवान लाल, ओझा आदि विद्वानों ने अक्षरांकों में कोई नियम अथवा क्रम न पाकर उक्त मत को अस्वीकृत कर दिया; परन्तु इसके यह मानी नहीं हैं कि अक्षरांक ही न थे। शब्दों के प्रथम अक्षर अंकों के सूचक भले ही न हों, परन्तु अक्षरांकों का होना निर्विवाद है। इतना ही नहीं, प्रत्युक्त अंक-सूचक अक्षर लिपि के अनेक भेद-उपभेद तक थे। प्राचीन ग्रंथों से पता चलता है कि इसकी दो शैलियाँ थीं जो क्रमशः 'गीत-कल्प-भाष्य' आदि प्राचीन जैन ग्रंथों तथा आर्यभट्ट के ज्योतिष ग्रंथों में पाई जाती हैं। अक्षरांक लिपि में एक एक अंक के लिए कई-कई वर्ण आते थे जैसे क प य तीनों १ के द्योतक थे। कुछ ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनमें ग्रंथांतर होने पर एक ही स्वरांक अथवा व्यंजनांक भिन्न-भिन्न संख्याओं का द्योतक है जैसे आर्यभट्ट के ज्योतिष ग्रंथों में क तक न क्रमशः १ तथा ० के द्योतक हैं परन्तु अक्षर चिंतामणि में ४ तथा ५ के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त अंक सूचक शब्द-लिपि भी प्रचलित थी। इसमें भी दो प्रकार के अङ्क थे, शब्दांक तथा नामांक। शब्दांक लिपि में कोई पदार्थ अथवा व्यक्ति अपनी संख्या का ही सूचक हो जाता था जैसे मुनि संख्या में ७ हैं, अतः 'मुनि' ७ का द्योतक था जैसे 'तब प्रभु मुनि शर मारि गिराया'; इसी प्रकार हस्त, कर्ण, चक्षु, बाहु, इत्यादि मानव शरीरावयव संख्या में २-२ होने के कारण २ के, नख संख्या में २० तथा दशन ३२ होने के कारण क्रमशः २० तथा ३२ के, भुवन विधु, सूर्य, ग्रह,

नक्षत्र आदि अपनी संख्याओं के अनुसार क्रमशः १४, १, १२, ६ तथा २७ के, ज्योतिष सम्बन्धी पक्ष, राशि, चरण आदि क्रमशः २, १२, ४ आदि के और साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी व्याकरण, वेद, पुराण, महाकाव्य आदि क्रमशः ८, ४. १८, ५ आदि के, वाचक थे। सारांश यह है कि पदार्थों के भेद-प्रभेदों की संख्या शब्दांकों का आधार थी। कभी-कभी एक ही शब्द कई-कई संख्याओं का द्योतक भी होता था जैसे लोक ३ तथा १४ का सूचक था, क्योंकि लोक ३ और भुवन १४ हैं और लोक तथा भुवन पर्यायवाची हैं; इसी प्रकार रद १ तथा ३२ का, नरक ७ तथा ४० का सूचक था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी एक ही शब्द अपने विभिन्न अर्थों के अनुसार विभिन्न संख्याओं का सूचक भी होता था जैसे 'रस' जिव्हा सम्बन्धी तथा साहित्य सम्बन्धी दो प्रकार के होते थे अतः 'रस' ६ तथा ९ दोनों संख्याओं का सूचक भी होता था, श्रुति का अर्थ 'कान' तथा 'वेद' दोनों हैं, अतः यह २ तथा ४ दोनों का वाचक था, तथा 'युग' जोड़े के अर्थ में २ का और 'काल सम्बन्धी युग' के अर्थ में ४ का सूचक था इसी प्रकार कभी कभी शब्दों से उन वस्तुओं के अनुसार जिनसे वे संबद्ध होते थे अलग-अलग संख्याओं का बोध भी होता था जैसे 'अङ्ग', यदि वेद के हैं. तो ६ का, यदि राज्य के हैं तो ७ का और यदि योग के हैं तो ८, वाचक होगा।

इस प्रकार एक ही शब्द विविध संख्याओं का सूचक था। अतः शब्दांक लिपि में बड़ी अनिश्चितता थी और कभी-कभी निर्णय में बड़ी गड़बड़ हो जाती होगी। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। 'अष्ट लक्ष्मी' ग्रन्थ का रचना काल उसके कवि समय सुन्दर ने इस प्रकार दिया है—'रस जलधि राग सोम' अर्थात् (१६४६), परन्तु 'जलधि' के ४ तथा ७ का और 'रस' के ६ तथा ९ का सूचक होने के कारण विद्वानों ने ठीक

शब्द	सूचित संख्याएँ	शब्द	सूचित संख्याएँ
वायु अनिल		रत्न	३,५,६, १३,१४
आदि)	५, ४६	रद	१, ३२
पयोधि (तथा		राशि	१, ५७
उसके पर्याय		वर्ण	४, ५, ६
जलधि आदि)	४, ७	वसु	७, ८
पुर	३, ७	वह्नि	३, ५
प्रकृति	१४, २१, २५	वाजी	३, ७
ब्रह्म	१, ३, ८	विधु	१, ४
भुवन (और		विश्व	१३, १४
उसका पर्याय		विद्या	३, १४, १८
लोक)	३, ७, ८	वेद	३, ४
भूखंड	६, ६	सुर	५, ७, ३३
मही	१, ७	स्वर	५, ६, ७
मुनि	३, ७	शिव	३, १०, ११
मेरु	१, ५	शिलीमुख	५, ७
यति	६, ७	श्रुति	२, ४, ८, २०
युग	२, ४	हरनेत्र	१, ३,
रस	६, ६		

नामांक लिपि में किसी वस्तु अथवा व्यक्तिका नाम अपने वर्ग में जिस क्रम संख्या पर होता था उसी का वाचक हो जाता था जैसे अमरनाथ तीर्थङ्कर अपने वर्ग का अठारहवाँ तीर्थ है, अतः यह १८ का सूचक था; इसी प्रकार सामवेद वेद-वर्ग में तीसरा है, अतः ३ का सूचक हो गया । शब्दांक लिपि की उत्पत्ति संभवतः इस प्रकार हुई कि प्राचीन काल में लेखन-

प्रणाली का अभाव होने के कारण ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि के नियम शीघ्र स्मरण करने के लिए छंदोबद्ध कर लिए जाते थे और चूंकि बड़ी-बड़ी संख्याओं को छंदोबद्ध करने में कठिनता होती है, अतः वे शब्दों द्वारा सूचित की जाती होंगी। इनके सूचित करने का नियम 'अंकाना वामतो गतिः' अर्थात् उल्टा पढ़ना, पहिले शब्द से इकाई, दूसरे से दहाई, तीसरे से सैकड़ा, इत्यादि था। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा, सूर ने साहित्यलहरी' का रचना काल इस प्रकार दिया है, 'मुनि पुनि रसन के रस लेखु। दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संवत पेखि।' इसमें 'मुनि', 'रसन', 'रस' तथा 'दसन-गौरीनंद को' क्रमशः ७,०,६,१ के द्योतक हैं, अतः अंकानावामतो गतिः' के अनुसार रचना-काल संवत् १६०७ हुआ।

इसी प्रकार 'नयन २-वेद ४-मुनि ७-चंद्रमा १-' १७४२ का सूचक है, २४७१ का नहीं। कहीं-कहीं इस नियम अर्थात् 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अपवाद भी उपलब्ध हैं। यथा 'शशि १ उदधि ७ काय ६ शशि ०' (जिनतुर्ष कृत जंबूकुमार रास'), १७६० का सूचक है। यहाँ क्रम सीधा है। 'अचल ७ लोचन २ संयमभेद' १७ (दान विजय कृत वीर स्तवन जै० गु० क० भाग २, पृ० ४४६) १७७२ का सूचक है। यहाँ पहिले के दो शब्दों का क्रम सीधा और अन्तिम एक शब्द क्रम 'वामतो गति' के अनुसार अर्थात् नियमानुसार है। इन अपवादों का कोई नियम न था, अतः इस कारण भी बहुत कुछ अनिश्चितता थी।

यहाँ प्राचीन शब्दांकों की एक संक्षिप्त सूची दे देना उचित होगा।

शब्दांक सूची

०):—अम्बर तथा उसके पर्याय (आकाश, गगन, ख,

आदि), खग, पंक्ति, विंदु, रंध्र तथा उसका पर्याय (छिद्र), शून्य।

(१):—अंगुष्ठ, अज तथा उसके पर्याय (ब्रह्मा, विधाता आदि), अतीत, अद्वैतवाद, अलख, अवनि तथा उसके पर्याय (उर्वरा, उर्वी, कु, क्षमा, गो, धरणी, धरती, धरा, पृथ्वी, भू, भूमि, मही, मेदनी, वसुंधरा, वसुधा आदि) अश्व, आत्मा, आदित्य तथा उसके पर्याय (दिनेश, सूर्य आदि), इन्द्र तथा उसका पर्याय (शक्र), इन्दु तथा उसके पर्याय (उडपति, कलाधर, कलानिधि, क्षपाकर, चन्द्रमा, द्विजराज, निशाकर, निशानाथ, निशापति, निशेश, मृगांक, रजनीकर, रजनीश, विधु, शशांक, सोम, हिमकर आदि), एक, कलश, कुमुद, खड्ग, गोत्र, जीव, त्रिनयन, दंड, दीप, नायक, पताका, मेरु, रमा, रद, राशि, शंख, शारद, शुक्रनेत्र, हरनेत्र, हस्तिकर ;

(२):—अक्षि तथा उसके पर्याय (अंबक, आँख, चक्षु, दृग नयन, नेत्र, लोचन, आदि), असिधारा तथा उसका पर्याय (खड्ग धारा), आकृति, उभय, कुटुम्ब, कृति, गजदन्त, जानु, जंघा, दल, दोः, दो, द्वंद्व, द्वि, द्वै, नदी-तट, नाग-जिह्वा पक्ष तथा उसका पर्याय (पक्ष), भरत-शत्रुघ्न, यम तथा उसके पर्याय (कृतांत, यमराज आदि), राम-लक्ष्मण, श्रवण तथा उसके पर्याय (कर्ण, श्रुति आदि), शृंग, स्रोत, हस्त तथा उसके पर्याय (कर तथा पाणि)

(३):—अनल तथा उसके पर्याय (अग्नि, कृशानु, तपन पावक, वह्नि, शिखी, आदि) काल, गज, गुण, ज्वर, तत्व, ताप, त्रय, त्रि, त्रिकाल, त्रिकूट, त्रिगुण, त्रिनेत्र, त्रिफला, त्रिरत्न त्रिशिरा, त्रिशूल, दशा, पुष्कर, पूर्ण, भवन तथा उसके पर्याय (लोक, विश्व आदि), मुनि, यज्ञोपवीत-सूत्र, रत्न, राम, वचन, वर्ण, वाजी, विक्रम, विद्यावेद, शक्ति, शिर, शूल, संध्या, हरनेत्र तथा उसके पर्याय (शिवनेत्र, हरनयन) आदि।

(४):—अंग, अनुयोग, अभिनय, अवस्था, आश्रम, ईश्वर, उपाय, कथा, कास्य, कूट, केन्द्र, कोष्ठ, खानि, गज-जाति, गति, गोचरण, गोस्तन, चरण, चतुर, चतुष्टय, चार, जल, जलधि तथा उसके पर्याय (अंबुधि, अबुनिधि, अर्णव, जलनिधि, जलाशय दधि, नीरधि, नीरनिधि, पयोधि, पयोनिधि, पारावार, वारिधि, वारिनिधि, समुद्र, सागर, सिंधु) दशरथ पुत्र दिशि तथा उसके पर्याय (दिशा आदि) नीति, फल तथा उसका पर्याय (पदार्थ), बन्धु, बुद्धि, माला, मुक्ति, याम, युग, रीति रोहिणी, लोक-पाल, वर्ण, वाणिज, विधि, विधि-मुख तथा उसके पर्याय (ब्रह्म-मुख आदि), वेद तथा उसका पर्याय (श्रुति), सनकादि, संघात, संज्ञा, सेनांग, स्वतक, सम्प्रदाय, हरिभुज तथा उसके पर्याय (विष्णु-भुजा, हरि-बसु आदि)।

(५):—अंग, अक्ष, अर्थ, असु तथा उसका पर्याय (प्राण) आचार, करांगुलि, गव्य, गति, गिरि, ज्ञान, तत्व तथा उसका पर्याय (भूत), पर्व, पवन तथा उसके पर्याय (अनिल मरुत, वात, वायु, समीर आदि), पंच, पंचक, पंचकुल, पांडव, पाप, प्रणाम, प्रजापति, महाकाव्य, महायज्ञ, माता, मृगशिर मेरु, यज्ञ, रत्न, वर्ग, वर्ण, वह्नि, विषय, व्रत, शर तथा उसके पर्याय (नाराच, पत्री, बाण, विशिख, शर, शिलीमुख, सायक), शरीर, शस्त्र, श्रम, समिति, सुर, सुमति, स्थानक, स्वर।

(६):—अंग, अंगिरस, ऋतु, करभ, कार्त्तिकेय, कारक, करल, क्षमाखंड, खर, गुण, चक्रवर्त्ती, जीव, तर्क, तृण, देह, द्रव्य, पद, भाषा भू-खण्ड, भृंगपद तथा उसका पर्याय (अलिपद) यति, रति, रस, राग, रामा, रिपु तथा उसका पर्याय (अरि), लेश्या, वर्ण, वदन, वर्षधर, वेदांग, शर, शिलीमुख, षट, षटपद, समास, स्वर, संपत्ति।

(७):—अचल तथा उसके पर्याय (पर्वत, गिरि, नग, भूधर, महीधर, शैल आदि) अत्रि, अर्क, अश्व तथा उसके पर्याय (घोटक, तुरंग, वाजि, हय आदि) उदधि तथा उसके पर्याय (जलधि, जलनिधि, तोयधि, वारिधि, समुद्र, सागर, आदि) अंग, ऋद्धि, कलत्र, क्षेत्र, खर, गंधर्व, गोत्र, छंद, त्रिकूट, तत्त्व, ताल, तुला, द्वीप, दुःख, धातु, धान्य, नरक, नाग, पाताल फणि, मणि मही, मुनि तथा उनके पर्याय (ऋषि, यति,) मातृक, राज्यांग, लोक उसका पर्याय (भुवन), वार, व्यसन, सुख, सूर, स्मर, स्वर।

(८):—अंग तथा उसका पर्याय (योगांग), अनीक, अलि, अष्ट, अहि तथा उसके पर्याय (नाग, पन्नग, फणि, व्याल, सर्प आदि) ईश-मूर्ति, ऐश्वर्य, कर्म, कलम, कुलपति गिरि, दंत, दिक्पाल तथा उसके पर्याय (कुञ्जर, गज, दिग्गज, नाग, यूथप, लोकपाल व्याल, वारण सिंधुर, हस्ति, हय) दिशा, पुष्कर, ब्रह्म, याम, योग, वसु, विधि, व्याकरण, श्रुति, सिद्धि, सुर।

(९):—अंक, अंग, खंड, खग, गुण, गौ, द्वार, दुर्ग, नंद, नव,नाडी, नाम, नारद, नारायण, पवन, भक्ति, रत्न, रस, राशि, संख्या।

(१०):—अंगद्वार, अंगुलि, अवतार, अवस्था, आशा, कर्म, दश, दशा, दुर्ग, दोष, पद्म, प्राण, मुद्रा, रावण, सुख, हरि।

(११):—अग, अक्षौहिणी, ईश तथा उसके पर्याय (चंद्रशेखर, भव, भूतेश, महादेव, महेश, शंकर, शिव आदि), एकादश, भीम।

(१२):—आदित्य तथा उसके पर्याय (तरणि, दिनकर, दिन-मणि, दिवाकर, पतंग, भानु, भास्कर, रवि, सूर्य आदि) उपांग कर्म, कामदेव, कार्तिकेयनेत्र, जगती, द्वादश, मक्क, भावना' मास, यम, राशि, हस्वा, संक्रांति, सभासद, हृदयकमल।

(१३):—काम, घोषा, ताल, त्रयोदश,यक्ष, रत्न, रवि, विश्व, विश्वेदेवा, सरोवर।

(१४):—अश्विनी, कुलाकर, चतुर्दश, जिष्णु तथा उसके पर्याय (इन्द्र, पुरन्दर, शक्र, सुरपति, सुरेश, विडौजा), देव, ध्रवतारा, यम, रज्जु, रत्न, लोक तथा उसके पर्याय (भुवन, विश्व आदि), विद्या, स्त्रोत, स्वप्न।

(१५):—चन्द्रकला, तिथि, पक्ष तथा उसका पर्याय (घस्र), पंचदश, वृष।

(१६):—अंबिका, अष्टि, इन्दुकला तथा उसके पर्याय (शशि, कला आदि) उपचार, चित्रभानु, पार्षद, भूप तथा उसके पर्याय (भूपति, भूपाल, राजा आदि), शृङ्गार, षोडश, सुर, संस्कार।

(१७):—अत्यष्टि, कुन्थु, भोजन, मित्र, वारि, वारिद तथा उसके पर्याय (अंबुद, घन, जीमूत, मेघ, जलद, पयोद आदि) संयम (अथवा संयम भेद),सप्तदश।

(१८):—अध्याय, अष्टादश, तारण, द्वीप, धृति, पुराण, भार, विद्या, स्मृति।

(१९):—अतिधृति, एकोनविंशति, धन्या, पार्थिव, पिंड-स्थान, विशेष, संज्ञा।

(२०):—करांगुलि, ध्रति, रावण-चक्षु अथवा दशकंधर-चक्षु, रावण-भुजा अथवा दशकंधर भुजा, नख, नर, व्यय, विंशति, विशोपक, विश्व, श्रुति।

(२१):—उत्कृति, एकविंशति, प्रकृति, सर्वजित, स्वर्ग तथा उसके पर्याय (अमरलोक, अमरालय, देवालय, विबुधालय, सुर-लोक, सुरालय)।

(२२):—कृति, जाति, द्वाविंशति, परीषह।

(२३):—अक्षौहिणी, जरासंध, त्रयोविंशति, विकृति।

(२४):—अवतार, अर्हत, गायत्री, चतुर्विंशति, जिन, तत्व, सिद्ध, सुकृति।

(२५):—तत्व, पंचविंशति, प्रकृति।

(२६):—उत्कृति।

(२७):—नक्षत्र तथा उसके पर्याय (उडु, ऋक्ष, तारक, तारा आदि)।

(२८):—लब्धि।

(३०):—दल, सदल।

(३२):—द्वात्रिंशत, नर-लक्षण, रद तथा उसके पर्याय (दंत, दशन, द्विज, रदन)।

(३३):—त्रयास्त्रिंशत, त्रिविष्टप, बुध, सुर तथा उसके पर्याय (अमर, देव, देवता, विबुध)।

(३६):—रागिनी, वर्गमूल।

(४०):—नरक।

(४८):—जगती।

(४९):—पवन तथा उसके पर्याय (अनिल, प्रभंजन, पवमान, मरुत, वात, वायु, समीरण), तान।

(६४):—स्त्री-कला।

(६८):—तीर्थ।

(७२):—पुरुष-कला।

(८४):—जाति।

(१००):—अर्जुन-सुत, कमल-दल, तथा उसके पर्याय(अब्दल अब्ज-दल आदि) कीचक, जयमाला, धृतराष्ट्र-पुत्र अथवा धृत-राष्ट्र-सुत, मणिहार, रावणांगुलि, शक्रयज्ञ, शतभिषा, नाड़।

(१०००):—इद्र, इन्द्र नेत्र तथा उसका पर्याय (इन्द्र-चक्षु), अर्जुन-बाण, अर्जुन-भुज, गंगा-मुख, पंकज-दल तथा उसके पर्याय (अंबुजच्छद कमल-दल आदि), रविकर, विश्वामित्र

आश्रम, शेषशीर्ष तथा उसका पर्याय (अहिपति-मुख), साम-वेद-शाखा।

(१०,०००):—अयुत।

(१,००,०००):—प्रयुत।

(१०,००,००,०००):—अर्बुद।

अब प्रश्न यह है कि अंकों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। यद्यपि यह बताना तो असम्भव है कि अंकों का आविष्कार कब और किसने किया, परन्तु इतना निश्चित है कि इनकी उत्पत्ति रेखालिपि से हुई है, उदाहरणार्थ १, २, ३, ४ क्रमशः —, =, ≡, + के विकसित रूप हैं।

यहाँ अङ्कों के विकास का संक्षिप्त इतिहास दे देना अनुचित न होगा।

अंकों का संक्षिप्त इतिहास*

१:—इसका प्रथम चिन्ह (—) ४ थी शताब्दी तक प्रयुक्त होता था और व्यापारी लोग तो अब भी रकमें लिखने में 'एक आने' के स्थान पर यही चिन्ह काम में लाते हैं। यह रूप नाना-घाट, नासिक आदि की गुफाओं, आंध्र तथा अन्य क्षत्रिय राजाओं के शिला लेखों, मथुरा तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश से प्राप्त क्षत्रिय तथा कुशन राजाओं के शिलालेखों और मालवा गुजरात, राजपूताना आदि में राज्य करने वाले क्षत्रिय राजाओं के सिक्कों में उपलब्ध है। दूसरा रूपान्तर सुन्दरता लाने के कारण हुआ है। यह गुप्त वंशी राजाओं के शिलालेखों में नैपाल से प्राप्त ८ वीं शता० तक के शिलालेखों में और काठियावाड़ के वल्लभी राजाओं के ६ ठी से ८ वीं शता० तक के ताम्रपत्रों में प्राप्त है। यह रूप दूसरे रूप का ही रूपान्तर है। यह Bower

* अंशतः ओझाजी की पुस्तक 'नागरी अङ्क तथा अक्षर' के आधार पर

Manuscript (बावर साहब द्वारा खोज की हुई एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक) में उपलब्ध है। चौथा रूप तीसरे रूप से त्वरालेखन के कारण बना है। यह ११ वीं शता० की कई एक हस्तलिखित पुस्तकों में उपलब्ध है। शेष रूप चौथे रूप के ही रूपान्तर हैं।

२ तथा ३:—इन दोनों अङ्कों के चारा रूपांतरों का इतिहास क्रमशः '१' के पहिले, दूसरे, तीसरे तथा चौथे रूपान्तरों के अनुसार ही है।

४:—यह रूप अशोक के कालसी के तेरहवें शिलालेख में उपलब्ध है। दूसरा रूप नाना घाट आदि कई स्थानों में प्राचीन शिलालेखों में उपलब्ध है। तीसरा रूप क्षत्रिय राजाओं के सिक्कों में उपलब्ध है। चौथा रूप तीसरे का ही रूपान्तर है और त्वरालेखन के कारण बना है। यह १० वीं शता० के निकट की हस्तलिखित पुस्तकों में प्राप्त है।

५:—का पहिला रूप आंध्र तथा क्षत्रिय राजाओं के लेखों में और दूसरा गुप्त राजाओं के शिलालेखों में उपलब्ध है। तीसरा रूप नेपाल के शिलालेखों तथा प्राचीन पुस्तकों में उपलब्ध है। चौथा तथा पांचवा रूप ६ वीं तथा १० वीं शता० के लेखों में प्राप्त है।

६:—का पहला रूप अशोक के सहस्राम तथा रूपनाथ के लघु शिलालेखों* में उपलब्ध है। दूसरा रूप पहले का रूपान्तर मात्र है और मथुरा तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश से प्राप्त कुशान राजाओं के शिला लेखों में उपलब्ध है। तीसरा रूप दूसरे से त्वरा लेखन द्वारा निष्क्रमित हुआ है और कन्नौज के परिहार राजा महिपाल के हड्डाला के ताम्रपत्र में (६१४-६१७) उपलब्ध है।

*

७:—का पहिला रूप आंध्र राजाओं के शिलालेखों में उपलब्ध है। दूसरा रूप पहिले का रूपान्तर है और त्वरालेखन द्वारा बना है। यह क्षत्रिय राजाओं के सिक्कों में उपलब्ध है। तीसरा और चौथा रूप इसी के रूपांतर हैं। ये क्षत्रिय राजाओं के सिक्कों और वल्लभी राजाओं के ताम्रपत्रों में उपलब्ध हैं।

८:—का पहिला रूप आंध्र राजाओं के शिलालेखों में और दूसरा और तीसरा गुप्त राजाओं के लेखों में उपलब्ध है।

९:—का पहिला और दूसरा रूप आंध्र राजाओं के सिक्कों में उपलब्ध है। चौथा रूप गुप्त राजाओं के लेखों में उपलब्ध है और त्वरा लेखन के कारण तीसरे रूप से निष्क्रमित हुआ है। पांचवे रूप का प्रादुर्भाव त्वरा लेखन द्वारा चौथे रूप से हुआ है और यह १० वीं शता० के लेखों में प्राप्त है। छठा रूप इसी का रूपान्तर मात्र है

सब से प्रथम कुछ अंक-चिन्ह अशोक के शिलालेखों में मिलते हैं। इसके पूर्व के अंक-चिन्ह अप्राप्य हैं; परन्तु इसके यह मानी नहीं हैं कि भारत में मौर्य-काल के पूर्व अंक-चिन्ह थे ही नहीं और इस समय वे किसी विदेशी अंक-लिपि के आधार पर निर्मित कर लिये गए, जैसा कि कुछ विद्वानों का मिथ्या भ्रम है।

यहाँ कुछ विदेशी अङ्क लिपियों की व्याख्या कर देना उचित है। मिश्र का सब से प्राचीन अङ्क हाइरोग्लाइफिक चित्र लिपि था। हाइरोग्लाइफिक अङ्क लिपि में १, १० तथा १०० केवल तीन अङ्क चिन्ह थे। इन्हीं तीन अङ्कों से ९९९ तक के अङ्क बनते थे। १ का अङ्क चिन्ह एक खड़ी लकीर था, १ से ९ तक के अङ्क १ के अङ्क चिन्ह को दाईं ओर क्रमशः १ से ९ बार लिखने से बनते थे। ११ से १९ तक के लिए १० के अङ्क चिन्ह के बाईं ओर क्रमशः १ से ९ तक खड़ी लकीरें अर्थात् १ का अङ्क चिन्ह लगाने से बनते थे। १० से ९० तक के अङ्क चिन्ह १० के अङ्क

चिन्ह को क्रमशः १ से ९ बार लिखने से बनते थे। इसी प्रकार १०० से ९०० तक लिखने के लिए १०० का अङ्क चिन्ह क्रमशः १ से ९ बार लिखा जाता था। अतः मिस्त्री अङ्क क्रम बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में था और भारतीय अङ्क क्रम से कहीं अधिक जटिल था।

सिरिशियन अङ्क मिस्री अङ्कों से ही निकले हैं। इसमें २० एक नवीन अङ्क चिन्ह बना लिया गया है और ३० से ९० तक लिखने के लिए २० तथा १० के अङ्क चिन्ह आवश्यकतानुसार लिखे जाते थे। उदाहरणार्थ ९० के लिए २० का अङ्क ४ बार और उसके बाद १० का अङ्क लिखा जाता था।

ग्रीक अङ्क लिपि में केवल १०००० तक की संख्या थी।

रोमन अङ्क लिपि में १००० तक संख्या थी। रोमन अङ्क अब भी घड़ियों तथा अन्य स्थानों में प्रचलित हैं। इसमें १, ५, १०, ५०, १०० और १००० के अङ्क चिन्ह हैं, शेष अङ्क तथा संख्यायें इन्हीं से बन जाती हैं।

उक्त विदेशी अङ्क क्रमों में एक भी ऐसा न था जिससे गणित ज्योतिष तथा विज्ञान की कोई विशेष उन्नति हो सके। यह सब उन्नति भारतीय अङ्क क्रम द्वारा हुई।

भारतीय अङ्कों में वैदिक-कालीन जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय अक्षरों का होना इस बात का प्रमाण है कि उनकी उत्पत्ति वैदिक-काल में हो चुकी थी और उसका निर्माण ब्राह्मणों द्वारा हुआ न कि विदेशियों द्वारा। अरब ग्रीस, रोम आदि अन्य देशों में तो अङ्कों का आविष्कार इसके बहुत बाद में हुआ है। भारतीय अंकों की दो शैलियाँ हैं, प्राचीन तथा नवीन। अशोककालीन अंक-चिन्ह प्राचीन शैली के उदाहरण हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है. प्राचीन शैली में १ से ९ तक अंक थे और दहाई से गणना करने का नियम न था। यह शैली १५० ई०

पू० तक पूर्ण हो चुकी थी। नवीन शैली में शून्य की योजना की गई थी और दहाई से गिनने की प्रथा भी चल पड़ी थी।

इसी समय भारतवासियों ने 'दश गुणोत्तर संख्या क्रम' भी निकाला, जिसके अनुसार किसी अङ्क के दाहिनी ओर से बाईं ओर हटने पर उसका मूल्य दस गुना हो जाता है, उदाहरणार्थ ११११९ में पाँचों अङ्क १ के ही हैं, परन्तु दाहिनी ओर से लेने से पहला इकाई, दूसरा दहाई, तीसरा सैकड़ा, चौथा हजार तथा पांचवाँ दस हजार है अर्थात् पहिले १ से १ का, दूसरे १ से १० का, तीसरे १ से १०० का, चौथे १ से १००० का और पाँचवें १ से १०००० का बोध होता है। संसार की गणित, ज्योतिष विज्ञान आदि की समस्त उन्नति भारतवासियों के इसी अङ्क क्रम के कारण हुई है। अब प्रश्न यह है कि भारतवासियों ने यह अङ्क क्रम कब निकाला और इसका प्रचार अन्य देशों में कब और किस प्रकार हुआ। वराहमिहिर की 'पंच सिद्धान्तिका' में जो कि ५ वीं शता० की है, नवीन शैली के अङ्क सर्वत्र पाए जाते हैं। योग सूत्र के भाष्य में जो ३०० ई० के निकट का है, व्यास ने 'दशगुणोत्तर अङ्क क्रम' का उदाहरण स्पष्ट रूप से दिया है। इसके अतिरिक्त बख्शाली, (जि० युसुफजई, पंजाब) में भोजपत्र पर एक हस्त लिखित पुस्तक पाई गई है जिसमें नवीन शैली के अङ्क उपलब्ध हैं। हार्नलीके मत से इसका रचना काल ३री अथवा ४ थी शता० ी है। अतः यह निश्चित् है कि नवीन शैली पाँचवीं शताब्दी में प्रचलित थी और इसका आविष्कार इसके कुछ पूर्व सम्भवतः ४ थी शताब्दी में हो गया था। इसके विदेशों में प्रसरण के विषय में ओझा का मत है कि "नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारतवर्ष में हुई फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश यूरोप में हुआ है।"*

* ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला', पृष्ट ११७-११८

इसके पूर्व एशिया और यूरोप की चाल्डअन, हिब्रू, ग्रीक, अरब आदि जातियाँ वर्णमाला के अक्षरों से अङ्कों का काम लेती थीं। अरबों में खलीफावलीद के समय (ई० स० ७०५-७१५) तक अङ्कों का प्रचार नहीं था, जिसके बाद उन्होंने भारतवासियों से अङ्क लिये।"[1] इसकी पुष्टि अलबेरुनी ने भी अपनी पुस्तक 'इंडिया', भाग १, में इस कथन द्वारा की है, 'हिन्दी लोग अपनी वर्णमाला के अक्षरों से अङ्कों का काम नहीं लेते थे जैसा कि हम हिब्रू वर्णमाला के क्रम के अनुसार अरबी अक्षरों को काम में लाते हैं। भारतवर्ष में जिस प्रकार अक्षरों की आकृतियाँ भिन्न हैं, वैसे ही संख्या सूचक चिन्हों की आकृतियाँ भी भिन्न हैं। जिन अङ्कों को हम प्रयोग में लाते हैं वे हिन्दुओं के सुन्दर अङ्कों से लिये गये हैं' ओझाजी के कथनकी पुष्टि अन्य उद्धरणों द्वारा भी होती है यथा अङ्गरेजी विश्वकोष (Encyclopedia Britannica) में दिया है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा (अङ्गरेजी) वर्तमान अङ्कक्रम (दशगुणोत्तर) भारतीय उपज है। इन अङ्कों का अरब में प्रवेश संभवतः ७७३ ई० में हुआ, जब कि एक भारतीय राजदूत खगोल संबंधी सारणियाँ बगदाद में लाया था। फिर ९ वीं शता० के प्रारम्भिक काल में अबुजफर मुहम्मद अलखारिज्मी ने अरबी में उक्त क्रम की व्याख्या की और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार अधिक होने लगा—

यूरोप में शून्य सहित यह सम्पूर्ण अङ्क क्रम १२ वीं शता० में अरबों से लिया गया और इस क्रम द्वारा बना हुआ अङ्क गणित अल् गोरिट्मस (अलगोरिथम) कहलाया जो कि विदेशी शब्द अल्खारिज्मी का अक्षरांतर मात्र है"[2] अतः भारतीय अङ्क का क्रम प्रवेश अरब में ८ वीं शता० में और अरब से यूरोप में १२ वीं शताब्दी में हुआ।

---

1. Alberune's 'India', भाग १, पृष्ठ १७४।
2. Encylopedia Britannica, भाग १७ पृष्ठ ६२६।

अब केवल एक प्रश्न रह जाता है कि दहाई तथा शून्य की योजना किस प्रकार हुई। हम देखते हैं कि बच्चे प्रारंभ में इमली के चीयों, मट्टी की गुल्लियों अथवा छोटी-छोटी कंकड़ियों द्वारा गिनती सीखते हैं, तत्पश्चात् वे उँगलियों पर गिनना सीख जाते हैं। ठीक यही क्रम प्राचीन काल में भी था, सर्वप्रथम पत्थरों के टुकड़ों द्वारा गणना होती थी तत्पश्चात् उँगलियों का प्रयोग होने लगा। उँगलियों का उस समय बड़ा महत्व था। हाथ की उँगलियों की संख्या १० है, अतः दहाई से गणना होने लगी और अनेक प्रकार के दहाई-सूचक गणना-यन्त्र बन गये, आधुनिक बाल-फ्रेम इन्हीं का अवशेष चिन्ह है। तत्पश्चात् गणना-यन्त्रों की आकृति के अनुकरण पर अङ्क चौखूटे खानों के भीतर लिखे जाने लगे और स्थानानुसार उनसे इकाई, दहाई, सैकड़े, आदि का बोध होने लगा। उदाहरणार्थ वे |६| |२| |१| की भाँति लिखे जाते थे। जब कभी इकाई दहाई आदि के स्थान में कोई अङ्क नहीं होता था तो खाली खाना [] बना दिया जाता था। बाद में जब खाने त्वरालेखन में बाधक हुए, तो उनका लोप होगया और अङ्क दूर दूर ६ २ १ की भाँति लिखे जाने लगे और खाली खाने के लिये एक बिन्दु लगा दिया जाता था जो कि अरबी तथा उससे प्रभावित फारसी उर्दू आदि में शून्य के लिये अब भी आता है। बाद में जब अङ्क आजकल की भाँति पास-पास ६२१ की तरह लिखे जाने लगे, तो बिन्दु बहुत छोटा होने के कारण गड़बड़ करता था, अतः उसे एक चक्र से घेर कर ⊙ की भाँति लिखा जाने लगा। कालान्तर में बिन्दु लुप्त होगया और केवल चक्र ही शून्य का द्योतक रह गया।

सारांश यह है कि अङ्कों की उत्पत्ति सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुई और यहां से उनका प्रवेश अरब में और अरब से यूरोप के

अंक-चिन्ह अप्राप्य हैं, अतः उनकी उत्पत्ति का ठीक-ठीक समय बताना तो कठिन है, परन्तु उनमें जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय वर्णों का होना यह प्रकट करता है कि संभवतः उनका आविष्कार वैदिक काल में हुआ था। १ से ९ तक के अंक तो १५० ई० पू० तक पूर्ण हो चुके थे, परन्तु शून्य की योजना तथा दहाई से गणना करने का नियम पाँचवीं शताब्दी तक पूर्ण हुआ। तब से अंक लगभग उसी रूप में चले आ रहे हैं, केवल एक दो अंकों में सौन्दर्यार्थ एक-आध रेखा घट-बढ़ गई है जैसे ८ तथा ९ के स्थान में क्रमशः ८ तथा ९ लिखे जाने लगे हैं। छापे में ४, ५, ८, ९ क्रमशः ४, ५, ८, ९ की भाँति भी लिखे जाते हैं।

हिन्दी तथा अन्य लिपियाँ

किसी लिपि का श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट होना, निश्चय, उपयोगिता, सरलता, सौन्दर्य तथा त्वरालेखन आदि पाँच गुणों पर निर्भर हैं। लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन में इन्ही पाँच बातों की तुलना करनी चाहिए। हिन्दी लिपि का तुलनात्मक गौरव ज्ञात करने के लिए उसको उर्दू, रोमन, बँगला, गुरुमुखी, गुजराती, मराठी आदि मुख्य-मुख्य लिपियों के साथ उक्त कसौटी पर कसना चाहिए। आजकल भारतवर्ष की सर्वप्रमुख लिपियाँ तीन हैं हिन्दी, उर्दू तथा रोमन। हिन्दी विशेषतया उत्तरी भारत के हिन्दुओं तथा जमुना पार के कुछ हिन्दी भाषी मुसलमानों की लिपि है, परन्तु इधर स्वराज्य आन्दोलन के कारण इसका प्रचार दकन में मद्रास तक होगया है, सम्भव है किसी समय यह समस्त भारत में व्यवहृत होने लगे। उर्दू, उत्तरी भारत के मुसलमानों तथा मुगल-काल के प्रभाव से कायस्थों की घरू तथा लिखने-पढ़ने की भाषा, हैदराबाद दकन की मुसलिम राज्य होने के कारण राज्य-भाषा तथा उसके प्रभाव से बम्बई मद्रास की व्यवहारिक भाषा,

काश्मीर की, मुसलमान प्रजा अतिसंख्यक होने के कारण लोकभाषा और पञ्जाब की अरबी-फारसी के प्रभाव से सर्वसाधारण की भाषा है। अतः उर्दू लिपि का प्रचार उत्तरी भारत, काश्मीर, पञ्जाब तथा हैदराबाद दक्कन में अधिक है। रोमन (अंग्रेजी) भारत में अंग्रेजी राज्य होने के कारण, राज्य-लिपि है और समस्त भारत के दफ्तरों आदि में प्रयुक्त होता है। बँगला, गुरुमुखी, गुजराती आदि अन्य लिपियाँ प्रान्तिक हैं और इनका क्षेत्र बहुत संकुचित है। इस प्रकार हिन्दी, उर्दू तथा रोमन लिपियों का अन्य लिपियों की अपेक्षा क्षेत्र बड़ा और महत्व अधिक है। अतः हम प्रथम हिन्दी की उर्दू तथा रोमन लिपियों से विस्तृत तुलना और फिर बँगला, गुरुमुखी, गुजराती, मराठी आदि से संक्षिप्त तुलना करेंगे।

(क) हिन्दी, उर्दू तथा रोमन लिपियाँ—निश्चय तथा उपयोगिता का सम्बन्ध ध्वनि-विचार से और सरलता सौन्दर्य तथा त्वरालेखन का रूप विचार से है।

(अ) ध्वनिविचार (१) निश्चय—किसी लिपि के निश्चयात्मक होने के लिए यह आवश्यक है कि एक लिपि चिन्ह से एक ही ध्वनि का बोध हो और जो लिखा जाय वही पढ़ा जाय। उर्दू में एक एक चिन्ह कई-कई ध्वनियों का द्योतक है उदाहरणार्थ ی य ई ए ऐ आदि का द्योतक है जैसे क्रमशः ریاست (रियासत) بیس (बीस), کھیت (खेत), بیت (बैत) आदि में; इसी प्रकार ',' ऊ ओ औ व आदि के लिए आता है जैसे اونٹ (ऊँट), توپ (तोप), عورت (औरत), وقت (वक्त) आदि में। रोमन की भी यही दशा है, अपितु उसमें तो केवल ५ स्वर तथा २१ व्यञ्जन होने के कारण अधिकतर लिपि संकेत ऐसे हैं जिनसे कई-कई ध्वनियों का बोध होता है, उदाहरणार्थ c से स

तथा क का जैसे pice तथा cat में, ch से च क तथा श का जैसे chain. monarch तथा machine में, d से ड द तथा ज का जैसे duty, Mahmud तथा education में, g से ग तथा ज का जैसे get तथा page में, s से स ज़ तथा झ़ जैसे sat, is, measure में, t से ट त तथा च का जैसे teacher, 'Bharat' तथा Portugese में, th से ठ थ तथा द का जैसे 'Thakur', through तथा that में, a से अ आ ए तथा ऐ का जैसे America, cast, table तथा man में, u से अ उ ऊ का जैसे cut. put तथा tune में, o से आ तथा ओ का जैसे pot तथा nose में, ough से फ़ तथा ओ का जैसे rough तथा though में, इत्यादि। हिन्दी में यह दोष नहीं है, उसमें १६ स्वर तथा ३३ व्यञ्जन होने के कारण एक लिपि चिह्न से एक ही ध्वनि का बोध होता है और जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है. उर्दू अथवा रोमन की भाँति लिखो कुछ और पढ़ो कुछ वाला हिसाब नहीं है। दो एक उदाहरणों से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। हिन्दी में 'ऊधो' ऊधो ही रहता है, परन्तु उर्दू में ,ده,ا बहुरूपिया है और ओधव, औधव, ऊधव, ऊधू. ओधू, औधू. ओधौ, औधो ओधौ आदि जो चाहे सो हो सकता हैं। अनेकों हिन्दी शब्द ऐसे हैं जो उर्दू में भ्रान्तिरहित नहीं लिखे जा सकते। इसके अतिरिक्त उर्दू में [illegible] आदि क्रमश: लिखे तो लहजा इतीउलानकान बाल्कुल, अल्लाह जाते हैं परन्तु पढ़े लिहाजा, इत्तइस्कान. बिल्कुल, अल्ला जाते हैं। लिखने में तो उर्दू में और भी गड़बड़ है। उर्दू लिखने वाले प्राय: जेर, जबर, पेश, नुक्ता (बिन्दु) आदि की उपेक्षा कर देते हैं। फल यह होता है कि लिखो आलू बुखारा ([illegible]) और पढ़ो उल्लू बिचारा। तनिक सी असावधानी में 'खुदा' خدا से जुदा جدا हो जाता है

रोमन की भी यही दशा है। हिन्दी में हरे, धवन, ठैकोर आदि जो लिखे जायँगे वही पढ़े जायँगे, रोमन Hare को हरे अथवा हेअर, Dhawan को धवन, धवान अथवा धावन, Thacore को ठैकोर, ठैकौर, ठाकोर, ठकोर, थैकोर, दैकौर आदि जो चाहे सो पढ़ सकते हैं।

कहाँ तक कहा जाय रोमनमें हिन्दुओं के 'राम' और 'कृष्ण' और मुसलमानों के 'खुदा' तक बदल जाते हैं। रोमन में न तो 'अकार' है और न 'आकार,' अतः 'Rama' को 'राम' के अतिरिक्त 'आर-ए-एम-ए' 'रैमे', 'रेमे', 'रेमें', 'रमा'. 'रामा' आदि जो चाहे पढ़ सकते हैं। यही दुर् दशा 'कृष्ण' और 'खुदा' का भी है। 'राम' और 'कृष्ण' को रोमन में 'रामा' और 'कृष्णा' पढ़ना तो एक साधारण-सी बात है। 'भगवान् तक को पुल्लिग से स्त्रीलिंग बना देना', यह रोमन लिपि ही कर सकती है, अन्य नहीं। इसके अतिरिक्त उर्दू की भाँति तनिक से नुक्ते अथवा लकीर में कुछ का कुछ हो जानेकादोष रोमन में भी पाया जाता है, उदाहरणार्थ 'S' (स) के ऊपर तनिक-सी वक्र रेखालगादेने से वह 'श' (/s) और नीचे बिन्दु लगाने से 'ष' (ṣ), n (न) में नीचे बिन्दु लगाने से 'ण' (ṇ), और R (र) में नीचे बिन्दु लगाने से ऋ (ṛ) हो जाता है। अब यदि रेखा अथवा बिन्दु लिखने से रह गया, तो 'श' अथवा 'ष' केवल 'स', 'ण' केवल 'न' और ऋ केवल 'र' रह जाता है। इतना ही नहीं, अपितु वर्णों का रूप तक निश्चित नहीं है। कोई-कोई वर्ण तो रोमन में विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखते हैं, उदाहरणार्थ 'श' को कीथ महाशय 'c' इस प्रकार, वेबर साहब (ṡ) इस प्रकार ç और विन्टरनिट्ज़ 's' इस प्रकार लिखते हैं। अतः जब तक पाठक को सब विद्वानों के रूपों का पता न हो, वह पढ़ तक

कारण कि रोमन लिपि का व्यवहार करने वालों को ज्यों-ज्यों नवीन ध्वनियों का पता लगता जाता है, त्यों-त्यों भेदक चिह्नों की संख्या बढ़ती जाती है।

रोमन में एक और भी असुविधा है कि उसमें लेखन-शैली छापे की शैली से नितान्त भिन्न है। किसी-किसी वर्ण में तो जैसे *a* तथा a, *f* तथा f, *g* तथा g इत्यादि में इतना अन्तर है कि यदि किसी को छापे की शैली का ज्ञान न हो तो वह पढ़ ही नहीं सकता। छापे तथा लिखने की शैलियों के अतिरिक्त बड़े (Capital) और छोटे (Small) वर्णों का भेद जानना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शीघ्रता से अँग्रेजी लिखने में प्रायः i e, w m, h b l, g q, p f आदि एक से बन जाते हैं और पढ़ने में बड़ी गड़बड़ी होती है। अब हिन्दी को लीजिये, इसमें अनिश्चितता अथवा अवैज्ञानिकता अपेक्षाकृत कम है। इसमें प्रत्येक शब्द केवल शुद्ध रूप से लिखा ही नहीं जा सकता, अपितु भ्रान्ति रहित पढ़ा भी जा सकता है। केवल दो वर्ण ख तथा अर्द्ध ण (ए) ऐसे हैं जिनमें कभी-कभी गड़बड़ हो जाती है और ख रव और ए को रा पढ़ लिया जाता है। उदाहरणार्थ लिखने में तनिक सी असावधानी होने पर खाना रवाना और पाण्डव पाराडव हो सकते हैं। कभी-कभी घ तथा च और रु तथा रू में भी गड़बड़ हो जाती है और इनके सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान न देकर प्रायः घ के स्थान च और रु के स्थान में रू लिख दिया जाता है।

हिन्दी में एक और भी विशेषता है कि जो वर्ण जिस प्रकार उच्चरित होता है उसी प्रकार लिखा जाता है, उदाहरणार्थ 'म' 'ल' 'स' आदि के उच्चारण में म ल स की ध्वनि निकलती है और 'म' 'ल' 'स' ही लिखे जाते हैं, परन्तु उर्दू तथा रोमन के एक वर्ण के बोलने में कई ध्वनियाँ अथवा वर्णों का एक शब्द

बोलना पड़ता है और लिखा केवल एक ध्वनि का द्योतक वर्णही जाता है जैसे म ल स के लिये उर्दू में मीम लाम सीन और रोमन में एम, एल, एस बोले जाते हैं और लिखे केवल س ل م अथवा m l s जाते हैं। उर्दू वर्ण ظ ط ض ص ش ز ں ہ ع ا ; ں گ ک غ ع और अं० f h i n q r w x y z की भी यही दशा है। शेष वर्ण خ ح چ ج ث ٹ ت پ ب आदि तथा a b e d j k आदि भी सीधी ध्वनियों के द्योतक नहीं हैं। अतः उर्दू तथा रोमन वर्णमाला वैज्ञानिक नहीं है। अँग्रेजी में तो एक और भी दोष है कि प्रायः वर्ण अथवा अक्षर अनुच्चरित हो जाते हैं जैसे write. right, yneumania, condemn आदि का उच्चारण क्रमशः राइट, राइट, न्यूमोनिया, कन्डैम आदि की भाँति होता है। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी में कुछ ऐसे संक्षिप्त रूप भी हैं जिनका उनके द्योतक शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे cwt = Hundred weight,£ अथवा lb = Pound, इत्यादि।

सारांश यह है कि हिन्दी में जो कुछ लिखा जाता है वही संशय रहित निश्चय पूर्वक पढ़ा जाता है। अतः हिन्दी वर्णमाला उर्दू तथा रोमन से अधिक वैज्ञानिक तथा श्रेष्ठ है।

(२) उपयोगिता—किसी लिपि की उपयोगिता देखने के लिये यह जानना आवश्यक है कि उसमें अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष तो नहीं है अर्थात् उसमें आवश्यक ध्वनियों के द्योतक लिपि चिह्नों का अभाव तथा एक ध्वनि के द्योतक कई अनावश्यक चिह्नों की उपस्थिति तो नहीं है। अनेक ध्वनियों के लिये एक ही लिपि चिह्न अथवा एक ध्वनि के लिए अनेक लिपि चिह्न नहीं होने चाहिये। उर्दू में य ई ए ऐ ध्वनियों के लिए केवल ی चिन्ह और व ऊ ओ औ के लिए و आते हैं। ङ ञ ण के लिए कोई लिपि चिन्ह है ही नहीं; इनका काम ں से

चलाया जाता है, जो कि किसी प्रकार भी इनका पूर्ण तथा शुद्ध द्योतक नहीं है, जैसा कि इससे स्पष्ट है कि गङ्गा, प्रणाम आदि को گنگا (गनगा) پرنام (परनाम) आदि की भाँति लिखना पड़ता है। अर्द्धवर्ण कोई लिखा ही नहीं जाता जैसे धर्म, भक्ति आदि उर्दू में دھرم (धरम), بھگت (भगत) आदि हो जाते हैं। जबर जेर पेश क्रमशः अ इ उ की मात्राओं का काम देते हैं, परन्तु वे अपूर्ण हैं, उदाहरणार्थ मुक्ति के स्थान में مکتی (मुक्ती), कि के स्थान में کہ (कह अथवा के), प्रकाशचन्द्र के स्थान में پرکاس چاندر (परकाश चन्दर), इत्यादि लिखे जाते हैं। अतः उर्दू वर्णमाला नितान्त अपूर्ण है, उसमें संस्कृत का कोई भी श्लोक शुद्धता पूर्वक नहीं लिखा जा सकता है। अति व्याप्ति की तो यह दशा है कि बड़े-बड़े मौलवी तक ص س के चक्कर में पड़ जाते हैं। 'स' ध्वनि के लिए ث ص س, ह के लिए ھ ہ ح त के लिए ط ت अ के लिए ا ع. ज के लिए ظ ز ذ ض न के लिए ں इत्यादि आते हैं अर्थात उन ध्वनियों के लिए, जिनका एक-एक चिन्ह पर्याप्त था भ्रम में डालने के लिए अनावश्यक रूप से कई-कई चिन्ह आते हैं। यद्यपि बड़े-बड़े मौलवियों के अनुसार इनमें सूक्ष्म ध्वन्यात्मक भेद अवश्य हैं, परन्तु सर्व साधारण उसे नहीं समझते। अतः वे शुद्धतया प्रयुक्त होने के स्थान में उल्टी भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार उर्दू के ३८ वर्णों में ९ अनावश्यक हैं।

रोमन लिपि तो उक्त दोषों में उर्दू से भी गई-बीती है। इसमें ङ ञ ण ढ़ ड़ त द ख ज्ञ ञ के लिए कोई लिपि संकेत नहीं है। ङ ञ ण के लिए n आता है जो इतना अपूर्व है कि Danka (डंका) को डाँका, डान्का, डनका जो चाहो सो पढ़लो; इसी प्रकार पंडित Pandit (पंडिट), प्रसाद को Prasad (प्रसाड), गड़बड़ को Garbar (गरबर), पढ़ो को

Parbo (परहो), خرگوش (खरगोश) को Khargosh (ख़रगोश) आज्ञा को ajna (आज्ना) इत्यादि लिखना पड़ता है। वास्तव में रोमन में विदेशी ध्वनियों के व्यक्त करने की क्षमता ही नहीं है, संस्कृत फारसी आदि का साधारण से साधारण श्लोक अथवा नज्म भी रोमन में शुद्धता पूर्वक नहीं लिखा जा सकता। अति व्याप्ति के विषय में यह है कि अनेकों ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनके लिए अनावश्यक रूप से कई-कई लिपिचिन्ह आते हैं जैसे फ के लिए f, ough. ph, द के लिए th, d, क के लिए c, k, q, ch, ck, ज के लिए g, j, ज़ के लिये z, s, स के लिए c, s, व के लिए w, v, u (जैसे oudh में), इत्यादि। इनका काम केवल एक-एक चिन्ह से भली भाँति चल सकता था। अतः उर्दू तथा रोमन दोनों मे से एक भी अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों के कारण पूर्णतया उपयोगी नहीं कही जा सकती।

हिन्दी में अपनी ही नहीं अपितु संस्कृत, अरबी, फारसी, अंगरेजी आदि प्रत्येक भाषा की ध्वनियों को व्यक्त करने की क्षमता है। पहिले फारसी ژ अरबी غ ع ف ق خ) अङ्ग्रेजी a, o, e, आदि के लिए कोई लिपि-चिन्ह न थे, परन्तु अब इनके लिए क्रमशः झ़ अ़ ग़ फ़ क़ ख़ ज़, अं ऑ आॅ ऍ ऍ आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त ड़ ढ़ व (उँ) य़ (इँ) ऐॅ ओ ओॅ ह़ द़ आदि और भी अनेक नवीन चिन्ह प्रयुक्त होते हैं। वास्तव में हिन्दी लिपि इतनी पूर्ण तथा स्थिति स्थापक है कि किसी भी भाषा की ध्वनि क्यों न हो, वह हिन्दी के किसी न किसी वर्ण द्वारा उसमें कुछ रूपान्तर करके भली भाँति व्यक्त की जा सकती है। केवल बंगला अ और एक आध मराठी तथा मद्रासी ध्वनियों के सूचक चिन्हों का हिन्दी में अभाव है अतः हिन्दी में व्याप्ति दोष नहीं के बराबर है और संस्कृत, फारसी, अङ्ग्रेजी, आदि किसी भी

भाषा का कठिन से कठिन छन्द भली भाँति लिखा जा सकता है। हिन्दी में प्रायः एक ध्वनि के लिए एक से अधिक चिन्ह नहीं आए हैं। अतः अनावश्यक चिन्हों का अभाव सा है। यों तो केवल 'अ' एक ऐसा स्वर है जो प्रधान स्वर कहा जा सकता है और वर्ण तथा मात्रा दोनों हैं, शेष सभी स्वर 'अ' के आधार पर बन सकते हैं। आ ओ औ अं अः तो 'अ' के आधार पर बनते ही हैं, इ ई उ ऊ ए ऐ भी सिद्धान्तानुसार स्वभाविक रूप से 'अ' पर मात्रा लगा कर क्रमशः अि अी अु अू अे अै की भाँति लिखे जा सकते हैं और मराठी की उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाओं में तो कुछ समय से इ ई उ ऊ ए ऐ के स्थान में अि अी अु अू अे अै प्रयुक्त भी होने लगे हैं। हिन्दी में ऐसा करने में लिपि सुबोध तथा वैज्ञानिक तो अवश्य हो जाती है, परन्तु त्वरा लेखन को कुछ धक्का लगता है और विशेषतः हिन्दी में क्योंकि हिन्दी अ का रूप मराठी अ से कुछ क्लिष्ट तथा भिन्न है। अतः हिन्दी इ ई उ ऊ ए ऐ भी अनावश्यक नहीं कहे जा सकते। केवल ऋ एक ऐसा वर्ण अवश्य है कि जिसका काम 'रि' से भी चल सकता है। संभव है यह भी किसी समय अपने पूर्वज ॠ की भाँति लुप्त हो जाय। आज कल भी इसका प्रयोग प्रायः तत्सम् शब्दों में ही होता है। चन्द्र बिन्दु (ँ), अनुस्वार (ं), ङ, ञ, अर्द्ध ण, न म में संस्कृत में कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य है; और नियमानुसार अनुस्वार के पश्चात जिस वर्ग का वर्ण हो, उसी वर्ग का पाँचवाँ वर्ण अनुनासिक व्यंजन स्वरूप आना चाहिए अर्थात् यदि अनुस्वार के पश्चात् कवर्ग का कोई वर्ण हो तो ङ जैसे लङ्का, चवर्ग का कोई वर्ण हो तो ञ जैसे पञ्जा, तवर्ग का कोई वर्ण हो तो न जैसे क्रान्ति, टवर्ग का कोई वर्ण हो तो ण जैसे दण्ड तथा पवर्ग का कोई वर्ण हो तो म जैसे कुम्भ आयगा। परन्तु हिन्दी में यह सब अनावश्यक सा हो गया है। कारण कि आजकल हिन्दी में

अनुनासिक व्यञ्जनों के स्थान में अनुस्वार (ं) लगाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है और उसका उच्चारण प्रायः 'न' की भाँति होने लगा है यथा—गङ्गा, पञ्च, पण्डित, शम्भु आदि शब्द क्रमशः गंगा, पंच, पंडित, शंभु आदि की भाँति लिखे जाते हैं। अं अः तो केवल मात्रा मात्र हैं ही। अब रह गया केवल एक वर्ण 'ष' जो निरर्थक सा है। पहिले यह ख ध्वनि का द्योतक था, परन्तु आज कल 'श' ध्वनि का द्योतक है और इसके स्थान में श प्रयुक्त भी होने लगा है जैसे कोष, वेष, शीर्ष, आशीष, कृष्ण आदि के स्थान में कोश, वेश, शीश, आशीश, किशन, आदि भी प्रयुक्त होते हैं। अतः जब इसका काम 'श' से चल सकता है तो यह अनावश्यक है। 'ज्ञ' का काम भी ग्य से चल सकता है। 'द्य,' 'क्त' संयुक्ताक्षरों के प्रारम्भिक रूप द्‌य क्‌त अथवा क्त आदि भी अनावश्यक रूप से प्रयुक्त होते हैं, परन्तु इनका प्रचार धीरे-धीरे कम हो रहा है। अतः ङ ञ ऋ ष ज्ञ के अतिरिक्त शेष कोई वर्ण अनावश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वरों का मात्रा स्वरूप प्रयुक्त होना हिन्दी की एक उपयोगिता ही नहीं, अपितु ऐसी विशेषता है जो अन्य किसी लिपि में नहीं पाई जाती। अतएव हिन्दी उर्दू तथा रोमन की अपेक्षा अधिक उपयोगी है।

इतना ही नहीं, हिन्दी वर्ण क्रम भी उर्दू तथा रोमन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। लिपि चिन्ह ध्वनियों के सूचक हैं अतः सब से वैज्ञानिक वर्ण-क्रम वह होगा जो ध्वनियों के उच्चारण के अनुसार किया जायगा। अङ्गरेजी वर्णों में तो कोई क्रम है ही नहीं। उर्दू में ध्वनियों के अनुसार तो नहीं, हाँ वर्णों के रूपों के अनुसार कुछ क्रम अवश्य है, परन्तु वह भी अपूर्ण है। रूप क्रमानुसार ف को ت پ ب आदि के पास तथा ے ک ل को इनके पश्चात, ی ش، س ن ل ض ص ق خ ج को ح چ ج

आदि के पास और ج , को ں ن के पास तथा ظ ط को इनके पश्चात होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं है। अतः इनमें न तो ध्वनि क्रम ही है और न रूप क्रम ही। इसके अतिरिक्त रोमन तथा उर्दू में स्वर तथा व्यंजन तक हिले मिले हैं, पृथक-पृथक नहीं हैं। इसके विरुद्ध हिन्दी में स्वर तथा व्यंजन अलग-अलग हैं। स्वर उसी क्रम से रक्खे गए हैं जिससे कि बच्चे उनको बोलना आरम्भ करते हैं। व्यञ्जनों का सप्त वर्गीय वर्गीकरण भी उच्चारण स्थान के अनुसार है। एक स्थान से उच्चरित होने वाले व्यञ्जन एक वर्ग में रक्खे गए हैं। अतः हिन्दी वर्ण क्रम प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक है।

इस प्रकार ध्वनि विचार की दृष्टि से हिन्दी वर्णमाला सर्वश्रेष्ठ है।

(आ) रूप विचार (३) सरलता:—हिन्दी लिपि की सरलता तो सर्वमान्य है। इसके विषय में अधिक कहना अनावश्यक सा है। इसको बच्चा, बूढ़ा, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, देशी, विदेशी सब बड़ी सरलता से सीख लेते हैं। किसी लिपि की सरलता अथवा क्लिष्टता का अनुभव बच्चों द्वारा होता है। अध्यापक नित्य प्रति इसका अनुभव करते है कि बच्चे उर्दू तथा अङ्गरेजी की अपेक्षा हिन्दी अति शीघ्र सीख लेते हैं। उर्दू में पृथकतया तो पूर्ण वर्ण लिखे जाते हैं, परन्तु मिलावट में वे शोशे (संक्षिप्त संकेत) हो जाते हैं। शोशों के मिलाने में अधिक कठिनाई होती है, विशेषतः ل ا के पूर्व ک ک मिलाने में, बच्चे प्रायः کل को کل की भाँति लिखते हैं; ر ز के पूर्व ص ض س मिलाने में भी प्रायः शोशे कम अधिक हो जाते हैं जैसे بض को بِض, سر को سر आदि लिख देते हैं। फिर उर्दू की खते शिकस्त (घसीट) अर्थात अदालती उर्दू लिखना-पढ़ना तो उर्दू के अच्छे ज्ञाताओं तक के लिये

कठिन है। यद्यपि रोमन वर्णमाला देखने में सरल प्रतीत होती है, परन्तु वर्णों के मिलाने में बच्चों को कुछ कठिनाई अवश्य होती है, विशेषत: m तथा u के किसी वर्ण में मिलाने में। रोमन में छोटी-बड़ी और लिखने की तथा किताबी चार प्रकार की वर्णमाला होती है। यद्यपि छापे की (किताबी) वर्णमाला में a g आदि दो एक वर्ण कठिन अवश्य हैं, परन्तु शेष लिखने के वर्णों से सरल प्रतीत होते हैं जैसा कि इससे प्रकट है कि प्राय: मनुष्य छापे के f k p r s x y z तथा A B D E H I K L P Q R S T Z का लिखने में प्रयोग करते हैं। हिन्दी में ऋ झ क्ष आदि वर्णों के लिखने तथा ङ-ण का भेद समझाने में बच्चों को कुछ कठिनाई अवश्य होती है, तथापि इसमें उर्दू तथ रोमन की भाँति शोशों के घटाने बढ़ाने का डर नहीं है। इसके अतिरिक्त अर्द्ध र तथा ऋ की मात्रा स्वरूप किसी वर्ण के नीचे लगाने में, कुछ संयुक्ताक्षरों के लिखने में तथा र पर उ तथा ऊ की मात्रा लगाने में भी कठिनाई होती है। र तथा ऋ के प्रयोग में प्राय: बच्चे ही नहीं, बड़े भी यह सोचने लगते हैं कि 'ग्रह' 'प्रथा' आदि में 'र' लिखे अथवा 'ऋ' अर्थात् 'र' को नीचे लगाएँ अथवा वृत्त, सृष्टि आदि की भाँति नीचे लटकाएँ। अन्य संयुक्ताक्षरों की भाँति द्+य तथा क्+त के वैज्ञानिक रूप द्य तथा क्त अथवा क्त होने चाहिए और कुछ समय पूर्व यही प्रयुक्त भी होते थे, परन्तु इधर कुछ काल से उनके विकसित तथा संक्षिप्त रूप द्य तथा क्त का, जिनके लिखने में नए सीखतरों को कुछ कठिनाई अवश्य होती है, प्रचार अधिक हो गया है। उ तथा ऊ की मात्रा जिस प्रकार अन्य वर्णों में लगती है उस प्रकार र में नहीं लगती। अन्य वर्णों में मात्रा नीचे लगती है जैसे मुक्त, पूर्व, आदि में, परन्तु र में वह संश्लिष्ट हो जाती है जैसे रु रू में। रु तथा रू के वैज्ञानिक रूप रु तथा रू होने

चाहिये। यही कारण है कि बच्चे प्रायः इस प्रकार लिखा करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनके दो दो रूप हैं जैसे हुवा हुआ, जावेगा, जायगा, लिये लिए, गई गयी इत्यादि। मेरी समझ में तो जैसा बोला जाय वैसा लिखा जाय। इसमें गड़बड़ का कोई काम ही नहीं। हम प्रायः हुआ, जायगा, लिए, गई आदि बोलते हैं, अतः यही रूप अपनाने चाहिये। उक्त दो-एक साधारण कठिनाइयों के होने पर भी हिन्दी, उर्दू तथा रोमन की अपेक्षा अधिक सरल है।

(४) सौन्दर्य—अशोक कालीन वर्णों में शिर-बन्दी नहीं लगाई जाती थी, परन्तु बाद में सौन्दर्य वर्द्धनार्थ वर्णों के ऊपर उठी हुई रेखाओं के सिरों पर पगड़ी की भाँति कुछ छोटी रेखाएँ लगाई जाने लगीं जो कालान्तर में आड़ी रेखाओं में परिवर्तित होगई। इससे अशोक कालीन वर्णों की अपेक्षा आधुनिक वर्ण अधिक सुन्दर हो गये। इस सिरबन्दी के कारण ही हिन्दी लिपि उर्दू तथा रोमन से कहीं अधिक सुंदर प्रतीत होती है। इस सुंदरता के परिमाण में इतना अन्तर है कि प्रायः लोग हिंदी के सम्मुख उर्दू को चींटे की टाँगें और रोमन को चीत मकोड़े कहा करते हैं।

(५) त्वरा लेखन—किसी लिपि में निश्चय तथा उपयोगिता के पश्चात् मुख्य गुण त्वरा लेखन है। सब से शीघ्र वह लिपि लिखी जायगी जिसमें कम से कम लेखनी उठानी पड़े जैसे उर्दू तथा अंगरेजी; परन्तु इसके यह मानी नहीं हैं कि उर्दू अथवा रोमन हिन्दी से शीघ्र लिखी जा सकती है या हिन्दी की अपेक्षा अच्छी है। त्वरा-लेखन के साथ ही साथ निश्चितता तथा स्थान भी किसी लिपि के आवश्यक अंग हैं। यद्यपि उर्दू में हिंदी की अपेक्षा कम स्थान घिरता है, परन्तु अनिश्चितता अधिक है। रोमन में यद्यपि लेखनी कम उठानी पड़ती है और लेखक का

श्रम तथा समय कुछ बच जाता है, परंतु साथ ही साथ इतनी अस्पष्टता आ जाती है कि पाठक के समय तथा शक्ति की अधिक हानि होती है। इसके अतिरिक्त रोमन में हिंदी की अपेक्षा स्थान भी अधिक घिरता है, कारण कि हिन्दी वर्णों में आकार सम्मिलित है और अंग्रेजी में अलग से लिखा जाता है यथा 'कलम' में हिन्दी में क+ल+म केवल तीन वर्ण लिखने पड़ते हैं। परन्तु रोमन में k+a+l+a+m+ +a छः वर्ण लिखने पड़ते है। इसके अतिरिक्त रोमन में कभी कभी एक-एक हिन्दी वर्ण के लिये कई कई वर्ण लिखने पड़ते हैं, उदाहरणार्थ हिन्दी 'छ' के लिये c+h+h, ज्ञ के लिये j+n, ष्ट्र के लिये s+h+t+r+a इत्यादि। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा :—

मैं आ प से न हीं
M A I N A P S E N A H I
बो ल ता हूँ
B O L A T A H U N

अतः स्थान विस्तार की दृष्टि से रोमन की अपेक्षा हिन्दी में कम स्थान घिरता है, तदनुसार छापे में भी कम टाइप लगते हैं और पढ़ने में कम समय लगता है और दृष्टि को कम श्रम करना पड़ता है। हिन्दी में सिरबन्दी त्वरालेखन में बाधक है क्योंकि, उसके कारण कई बार लेखनी उठानी पड़ती है। परन्तु इसकी पूर्ति मात्राओं तथा कुछ चिन्हों † द्वारा हो जाती

† यद्यपि ऊपर नीचे लगने वाली मात्राओं तथा चिह्नों में लेखनी उठाने के कारण कुछ देर अवश्य लगती है, तदपि वर्णों की अपेक्षा कम समय लगता है। यदि इन मात्राओं तथा चिन्हों में कुछ सुधार कर लिये जाँय, तो और भी कम समय लगे। यथा इन ऊपर नीचे की मात्राओं तथा चिन्हों के

है। यदि शिरो भाग की रेखायें निकल जाँय तो हिन्दी की लेखन गति उर्दू तथा रोमन से कहीं अधिक हो जाय, परन्तु ऐसा करने में उसकी निश्चयता को धक्का लगेगा और अनेकों वर्णों में गड़बड़ी हो जायगी, उदाहरणार्थ घ,घ, भ म, र व ख, में कोई भेद न रहेगा। निश्चय त्वरा लेखन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण गुण है, उसका ह्रास ठीक नहीं। अतः हमको सिरबन्दी हटाने के पूर्व घ ध म भ आदि वर्णों के रूपों में परिवर्तन करना पड़ेगा।

(ख)हिन्दी तथा बङ्गला, गुरुमुखी, गुजराती, मराठी आदि लिपियाँ—हिन्दी तथा मराठी वर्णमाला तो एक सी हैं ही। केवल अ छ झ ण भ ल श के रूपों में थोड़ा सा भेद है और ड़ ढ़ ध्वनि सकेतों का मराठी में अभाव है। (देखो वर्णों का

कारण लिपि में वर्णों की तीन श्रेणियाँ (stories) हो जाती हैं अर्थात् एक पंक्ति में तीन पंक्तियाँ ऊपर की मात्रा वाली, मध्य की वर्ण वाली तथा-नीचे की मात्रा तथा संयुक्ताक्षर वाली—हो जाती हैं, जिससे लिखने के अतिरिक्त पढ़ने में भी अधिक देर लगती है। यदि ये मात्रायें तथा चिन्ह वर्णों के सामने लगाये जाँय जैसे ग, रु, पूजा, कटपि, इत्यादि, तो उक्त दोष दूर हो सकता है। गुजराती तथा मराठी में तो इस प्रकार के कुछ चिन्ह हैं भी जैसे रेफ (̊) का चिन्ह (˘) इस प्रकार है यथा कर्म, दुर्दशा आदि क्रमश कऽम, दुऽदशा की भाँति लिखे जाते हैं। हिन्दी में भी कुछ विद्वान अनुस्वार (˙), चन्द्र बिन्दु (ँ) हल चिन्ह (्) को संशोधित रूप में वर्णन के सामने लगाने के पक्ष में हैं यथा पंच, काँटा, चड्ढा, उद्गम आदि क्रमशः प॰च, का॰टा, चड्ढा, उद्-गम आदि की भाँति लिखे जाने चाहिये। तदनुसार मेरी समझ से तो संयुक्ताक्षर भी ऊपर नीचे लिखने के स्थान में उक्त हलन्त अथवा संयोजक चिन्ह (—) लगाकर बराबर बराबर ही लिखने चाहिए जैसे बुड्ढा, विट्ठल आदि के स्थान में क्रमशः बुड्ढा, विट्-ठल आदि। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है।

तुलनात्मक चित्र)। अतः अब रह जाती हैं तीन लिपियों-बंगला गुरुमुखी तथा गुजराती।

बङ्गलाः—अ उ स्वर और क घ ट ड ढ न फ ब य ल व ष व्यञ्जन तो हिन्दी तथा बङ्गला दोनों में एक हैं, परन्तु ख ग ङ ज ञ ट त थ द ध प र श ऋ हिन्दी के बङ्गला से सरलतर हैं। हाँ ठ अवश्य बंगला का हिन्दी से सरल है। अतः हिन्दी बङ्गला से कहीं सरल है। बङ्गला में वर्णों के रूप क्लिष्ट होने के कारण, सौंदर्य तथा त्वरालेखन भी अपेक्षाकृत कम हैं। हिंदी में बङ्गला की समस्त ध्वनियों के द्योतक चिन्ह हैं, परंतु बङ्गला में हिन्दी ण व आदि ध्वनियों के लिपिचिन्ह हैं ही नहीं। अतः बङ्गला की उपयोगिता हिंदी की अपेक्षा कम है। व तथा र में रूप-सादृश्य होने के कारण बंगला में अनिश्चितता का दोष भी आ जाता है। बंगला में केवल २४ वर्णों पर सिरबंदी है, अतः सुन्दरता भी अपेक्षाकृत कम है। इस प्रकार हिन्दी बंगला से सर्व प्रकार उत्तम है।

गुरुमुखीः—अ उ स्वर और क ग च छ ज ट ठ ड ढ म र तो हिन्दी तथा गुरुमुखी दोनों में समान हैं, परन्तु घ ञ व य ल प हिन्दी के और ख ध ण भ गुरुमुखी के सरल हैं। अतः हिन्दी गुरुमुखी से सरलता में ही नहीं अपितु त्वरा लेखन में भी श्रेष्ठतर है। यद्यपि सौन्दर्य तथा निश्चय गुण दोनों में समान हैं, तदपि अ ध ठ प आदि गुरुमुखी वर्णों पर सिरबंदी नहीं है और थ तथा य और श तथा स में बहुत कम भेद है। त्त त्र ज्ञ ऋ ध्वनियों के लिपि चिन्ह हैं ही नहीं, अतः अव्याप्ति दोष भी पाया जाता है। इस प्रकार हिन्दी गुरुमुखी से भी श्रेष्ठ ठहरती है।

गुजरातीः—हिन्दी तथा गुजराती वर्ण माला में बहुत कुछ सादृश्य है, केवल सिरबंदी का भेद है। यदि हिन्दी वर्णों की सिरबंदी उड़ा दी जाय, तो उ ऋ स्वर और क ग घ छ ञ ट ढ